॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

[वर्ष ५४] 'नंद सुअनकी या छबि ऊपर सूरदास बलिहारी' [अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, दिसम्बर १९८०

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]
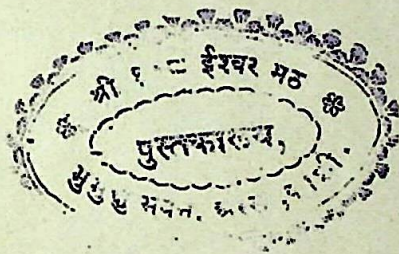
भगवान् राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
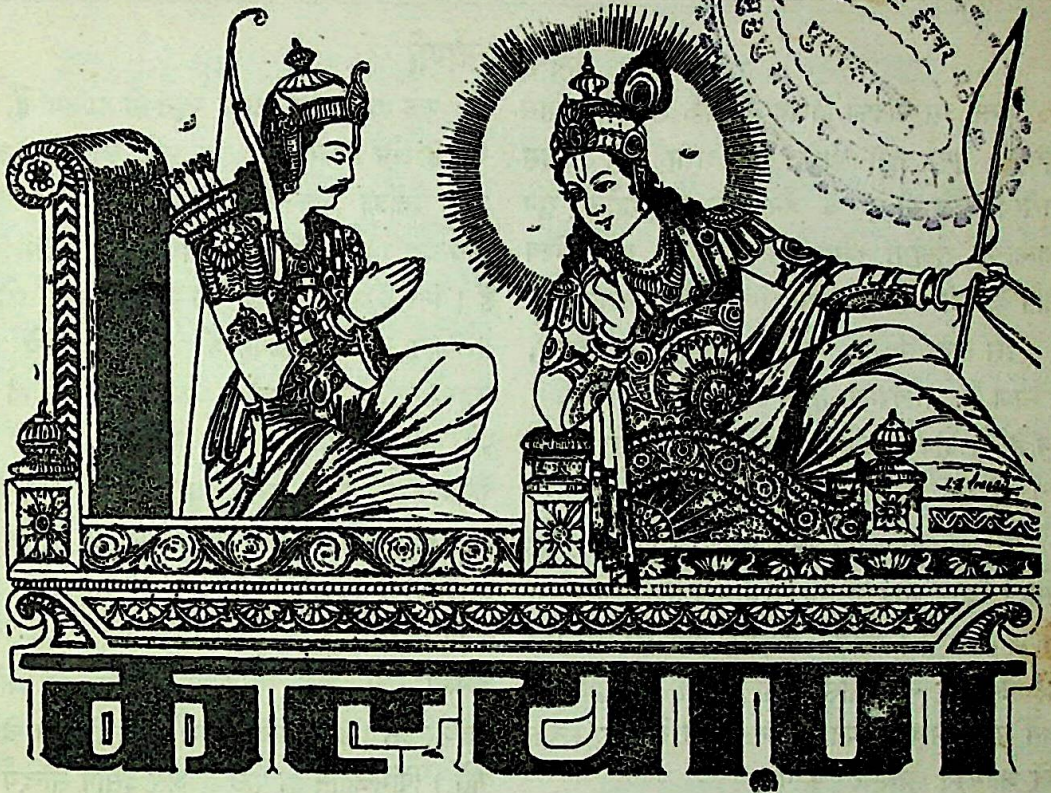
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४	गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, दिसम्बर १९८०	संख्या १२ पूर्ण संख्या ६४९

सौन्दर्य-निधान भगवान् श्रीराम

रामचन्द्र-मुख-कंज मनोहर भक्त-भ्रमर-मन-हारक ।
मंगल-मूल मधुर मंजुल मृदु दिव्य सहज सुख-कारक ॥
नित्य निरामय निर्मल अविरल ललित कलित सुभ सोभित ।
पाप-ताप-मद-मोह-हरन, मुनि मन सुचि-करन सुलोभित ॥
नील-स्याम तनु, धनु कर सोहत, वरद हस्त भय नासत ।
सुमन-माल सुरभित, मुक्ता-मनि-हार लसत, द्युति भासत ॥
पीत-वसन सौन्दर्य-शौर्य-निधि भाल तिलक अति भ्राजत ।
अखिल-भुवनपति, सुषमा-श्री लखि, काम कोटि-सत लाजत ॥

—श्रीभाईजी

कल्याण-वाणी

मनमें इस बातका निश्चय करो कि शरीरके नाशसे तुम्हारी मृत्यु नहीं होती, तुम शरीर नहीं हो, इस शरीरके पहले भी तुम थे और पीछे भी रहोगे। तुम आत्मा हो, तुम्हारा स्वरूप नित्य है। जो वस्तु नित्य होती है वही सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन होती है। इस नित्य सनातन, सर्वव्यापी स्वरूपमें न जन्म है, न मरण है; न विषमता है, न विषाद है; न राग है, न रोग है; न दोष है, न द्वेष है; न विकार है और न विनाश है। यह सत् है, चेतन है और आनन्दमय है।

यही आनन्दमय सत्-चेतन-स्वरूप आत्मा सर्वगत है, संसारमें जितने जीव हैं उन सबमें यही निर्दोष और सम आत्मा स्थित है। इसलिये जिसकी दृष्टि इस आत्माकी ओर होगी वह न किसीसे घृणा करेगा, न द्वेष; वह सबमें समान भावसे अपने आत्मस्वरूपको देखकर सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार करेगा।

आत्मवत् व्यवहारमें अपने ही शरीरके दायें-बायें और ऊपर-नीचेके अङ्गोंके साथ और उनके द्वारा होनेवाले व्यवहारकी भाँति क्रियामें भेद रहेगा; क्योंकि बाह्य व्यवहार सारे-के-सारे प्रकृतिमें हैं और प्रकृतिमें भेद है ही। इस प्रकृतिभेदके कारण ही समस्त संसारमें विषमता नजर आ रही है। न सबका वर्ग एक-सा है, न बुद्धि एक-सी है, न ढाँचा एक-सा है, न शरीरकी शक्ति एक-सी है। न चेहरा एक-सा है; कुछ-न-कुछ भेद अवश्य है। इस भेदमय संसारमें अभेद देखना ही तो आत्मबुद्धि है—शुद्ध ज्ञान है। ये सारे भेद विनाशी हैं और वह अभेद अविनाशी है। अतएव जितने जीव हैं, सब अलग-अलग भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीख पड़ते हैं, उन सबमें एक विभागरहित नित्य अविनाशी आत्माको देखो। और, ऐसा देखते हुए ही यथायोग्य बर्ताव करो। तुम्हारे सब बर्ताव अंदरसे सर्वथा निर्दोष हो जायँगे। संसारमें बरतनेका यह उत्तम उपाय है।

एक ही विशाल वृक्षकी बहुत-सी डालियाँ हैं, लाखों पत्ते हैं और हजारों फूल तथा फल लगे हैं। डालियों और पत्तोंकी अलग-अलग आवश्यकता भी है और सार्थकता भी; क्योंकि फूल तथा फल इन्हींसे मिलते हैं। निरे ठूँठसे फल-फूल नहीं मिलते; परन्तु कोई भी बुद्धिमान् पुरुष डालियों और पत्तोंके लिये ठूँठकी जड़को नहीं काटता; क्योंकि जड़के कट जानेसे तो डाली-पत्ते और फूल-फल फलेंगे किसके आधारपर? पर केवल जड़की रक्षा करके डाली-पत्तोंको काटनेसे भी काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार मूलवृक्ष आत्मा और उसके डाली-पत्तेस्वरूप विभिन्न बाह्य अङ्ग हैं। अतएव न तो सर्वगत, एकरस, निर्दोष और सम आत्मामें भेदकी कल्पना करो, और न बाहरके व्यवहारमें विभिन्नता देखकर इस विभिन्नताको नाश करनेकी व्यर्थ चेष्टा ही करो। विभिन्नतामें ही फल है और इसीमें सौन्दर्य है। ×××× इस विचित्रता और अनेकतामें ही उस नित्य एक समत्व और एकत्वका अनुभव करो—व्यावहारिक अनित्य भेदमें ही पारमार्थिक नित्य अभेदके दर्शन करो।

यह आत्मा परमात्माका ही सनातन अभिन्न अंश है, परमात्माका ही स्वरूप है। परन्तु जबतक इसकी स्थिति प्रकृतिमें है तबतक यह जीवात्मा कहलाता है और तबतक इसे प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगना तथा गुणोंके सङ्गसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जाना पड़ता है। असङ्ग, अक्रिय, नित्य, आनन्दमय होनेपर भी इसे प्रकृतिस्थित होनेसे सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है। इस प्रकृतिमेंसे 'अहं'को निकालकर उसे सत् और आनन्दमय सर्वगत अविनाशी एक आत्मामें स्थापित करो और प्रकृतिजन्य गुणोंके फंदेसे छूटकर सुख-दुःखसे अतीत अनामय आनन्दमय ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हो जाओ।

—'शिव'

*
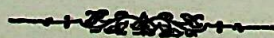
ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत वचन

[श्रीभगवान्‌की दया]

भगवान् मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये और विशेषरूपसे भक्तोंको परिपक्व बनानेके लिये परीक्षा लेते रहते हैं। यद्यपि वे हमारे हृदयकी एक-एक भावनाको अच्छी तरहसे जानते हैं, किंतु फिर भी जैसे अध्यापक विद्यार्थियोंकी योग्यता-अयोग्यताको जानता हुआ भी उनकी परीक्षा लेता है, उसी प्रकार निरन्तर हमारी परीक्षा लेते रहते हैं। अध्यापक तो किसी अंशमें लड़कोंकी योग्यता नहीं जानते इसलिये भी परीक्षा ले सकते हैं; किंतु भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जाननेवाले हैं, उनसे तो कुछ छिपा ही नहीं है।

हमलोग जिसे आपत्ति कहते हैं, वह वास्तवमें भगवान्‌की भेजी हुई ही आती है और आती है केवल हमको कसौटीपर कसनेके लिये और हमारे उत्थानके लिये। अनिच्छा और परेच्छासे जो भी कुछ आकर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवदिच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। पर यह बात केवल अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंके सम्बन्धमें ही है, नवीन कर्मके विषयमें नहीं। नवीन कर्म भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी सात्त्विक बुद्धिसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सुचारुरूपसे करे। सारे कार्योंको भगवदाज्ञा या कर्त्तव्यकी बुद्धिसे करना चाहिये।

अनुकूल-प्रतिकूलकी प्राप्तिमें जिसका जितना राग-द्वेष, हर्ष-शोक कम हो गया उतना ही वह आगे बढ़ा है। जितना विकार होता है, उतना ही नीचे गिरा हुआ समझना चाहिये। यह पक्की परीक्षा है। विकार दो तरहके हैं—एक मुक्ति देनेवाला और दूसरा पतन करनेवाला। मुक्तिदायक विकारका लक्षण है—दूसरेको दुखी देखकर दुखी होना और दूसरेके सुखको देखकर सुखी होना। यह विकार होनेपर भी मुक्तिदायक होनेके कारण ग्रहण करनेयोग्य है। पतन करनेवाले विकारका लक्षण है—अपने दुःखमें दुखी और अपने सुखमें यानी सुखदायक पदार्थोंकी प्राप्तिमें हर्षित होना। यह विकार त्यागनेयोग्य है। किंतु जो इन दोनोंसे बढ़कर विकार है, वह बहुत लज्जाजनक है; दूसरेके दुःखसे सुखी होना—प्रफुल्लित होना और दूसरेको सुखी देखकर, उन्नत देखकर दुखी होना—जलना। यह अति नीचता है। यह आसुरी प्रकृतिवालोंका लक्षण है। और, इससे भी बढ़कर नीचता क्या है? जो अपने साथ भलाई करे उसके साथ बुराई करना। इस प्रकारके अत्यन्त नीच प्रकृतिवालोंके लिये शास्त्रमें कोई शब्द नहीं है। भर्तृहरिने कहा है—

'ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।'
(नीतिशतक)

सबसे बढ़िया बात क्या है? अपने साथ जो बुराई करे, उसके साथ भी भलाई करना।

"जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।"

बस, इतनेमें ही अपना कल्याण है। 'तोहि फूलको फूल है वाको है तिरसूल' इस उत्तरार्धका भाव हमको लेनेकी जरूरत नहीं। 'वाको है तिरसूल' यह बात श्रेष्ठ पुरुष सुनना नहीं चाहते। यह कानून जरूर है, किंतु क्षमावान् पुरुष कानूनकी ओर खयाल नहीं करते। उनका तो क्षमा करना स्वभाव होता है। वे स्वभावतः ही सम्पूर्ण भूतोंमें द्वेषरहित और सबके मित्र होते हैं। उनके हृदयमें सबके प्रति करुणा होती है। अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड मिलेगा—यह बात सुनकर तो वे साधुपुरुष रो पड़ते हैं!

एक महात्मा-पुरुष नावपर बैठे हुए पार जा रहे थे। उसी नावपर दो अत्याचारी दुष्ट भी बैठे हुए थे। बिना कारण किसीको कष्ट देना दुष्टोंका स्वभाव ही होता है। उन्हें उस महात्माकी सौम्य, ऋजु और शान्त

आकृति खटकने लगी। दोनोंने परस्परमें संकेत करके महात्माको नदीमें डुबो देनेका विचार ठान लिया। उन्होंने धीरेसे उनको नावमें ही नीचे गिरा दिया। गिराते ही आकाशवाणी हुई—'ये दोनों दुष्ट हैं, अत्याचारी हैं, जो आपको कष्ट दे रहे हैं। ये आपको नदीमें डुबो देना चाहते हैं। आप कहें तो इन्हींको इस नदीमें डुबो दिया जाय।' बस, आकाशवाणीका सुनना था कि महात्मा रो पड़े और कहने लगे—'मैं कैसा अपराधी हूँ जो मेरे कारण इन्हें डुबो देनेकी बात मैं सुन रहा हूँ।' महात्माकी करुणाभरी वाणी सुनकर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन्हें दण्ड न दिया जाय तो क्या किया जाय?' तब महात्मा बोले—'इन्होंने मेरा दर्शन किया है, स्पर्श किया है और संग किया है। यदि भगवान्‌की मुझपर कृपा है और यदि मैं साधु समझा जाता होऊँ तो एक साधु पुरुषके संगसे जो लाभ वास्तवमें होना चाहिये, वही हो—ये भी साधुस्वभाव बन जायँ!'

उस महात्मा पुरुषकी और आकाशवाणीकी परस्परकी बातें सुनकर दुष्टोंपर बड़ा भारी असर हुआ। वे दोनों महात्माजीके चरणोंमें लोट-पोट हो गये और बस, उसी क्षणसे महात्मा बन गये।

यह उच्चश्रेणीका व्यवहार हुआ। इसमें दया, क्षमा, अहिंसा और अक्रोध सब भरे हुए हैं। और, ये सभी उच्चभाव हैं। महात्माजीको आकाशवाणीपर रोना आ गया था। यह दूसरेके हितसाधनके लिये होनेसे मुक्तिदायक था। यह महापुरुषोंका सिद्धान्त है, उनके हृदयका उद्गार है। इस व्यवहारको कोई भी काममें ला सकता है। केवल सबका हित कैसे हो, यह बुद्धि चाहिये। इतना ही पर्याप्त है। यह व्यवहार ही कर्मयोग है। जिस कार्यमें स्वार्थ न हो, किसी फलकी आकाङ्क्षा न हो और दूसरेका हित जिसमें भरा हो वही कर्मयोग है। इसके थोड़े-से साधनसे ही कल्याण हो जाता है। भगवान् (गीता २। ४०में) कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।

भाव यह कि थोड़ा-सा भी कर्म निःस्वार्थभावसे बन जाय तो वह मुक्ति देनेवाला होता है। फिर सदा-सर्वदा जिसके सम्पूर्ण कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, वे तो मुक्तरूप हैं ही। उनके दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरे पवित्र हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। इसलिये जो भी स्वेच्छासे काम करे, सावधानीसे करे, स्वार्थको त्याग करके करे और दूसरोंके हितकी दृष्टिसे करे। वही काम करे जिससे भगवान् प्रसन्न हों। स्वयं अपने मस्तकपर भगवान्‌का हाथ समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहे। यह बड़ा अच्छा साधन है। अपनी बुद्धिके अनुसार वही कार्य करता रहे, जिस कार्यसे भगवान् प्रसन्न हों। स्वेच्छासे तो भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार, उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे और अनिच्छा तथा परेच्छासे होनेवालेको भगवान्‌का भेजा हुआ प्रसाद समझता रहे। परेच्छासे होनेवालेको यह समझे कि भगवान्‌की ही इच्छासे ऐसा हो रहा है, भगवान् ही ऐसा कराते हैं और अनिच्छासे होनेवाले कर्मोंको यों समझे कि स्वयं भगवान् ही इन्हें करते हैं। बस, इस प्रकार समझ-समझकर खूब मुग्ध रहे। यही भक्ति है, यही शरणागति है और यही कर्मयोग है।

जिस क्रियामें भगवान्‌की सम्मति हो, वही काम करे और वह काम केवल उनके लिये ही करे। सब कुछ परमात्माका समझकर उनको अर्पित कर दे और प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्‌को याद रखे। भगवान्‌के दिये हुए प्रत्येक विधानमें निरन्तर उनका स्मरण करता हुआ परम संतोष मानकर हर समय प्रसन्न

रहे। यदि कहें कि किस बातको लेकर खुश रहें तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌की दयाको देख-देखकर। देखो, भगवान्‌की तुमपर कितनी दया है। अपार दया समझकर इतना आनन्द होना चाहिये कि वह हृदयमें समाये नहीं। हर समय आनन्दमें मुग्ध रहे। बार-बार प्रसन्न होवे। अहा! प्रभुकी कितनी दया है! यही सबसे बढ़कर साधन है और यही भक्ति है एवं इसीका नाम शरणागति है। ईश्वरकी दया, रुचि और उनके स्वरूपस्मरण करके प्रसन्न होता रहे। सुख-दुःख जो भी प्राप्त हो, उसमें उनकी दया देखे। अपनेद्वारा की जानेवाली क्रियामें रुचि देखे कि भगवान्‌की रुचि क्या है। जिसकी दया और रुचिका ध्यान होता है, उस पुरुषके स्वरूपका ध्यान तो दोनोंके साथ रहता ही है। जब आप यह समझेंगे कि अमुक महात्माकी मुझपर इतनी दया है तो उस समय उनकी स्मृति भी साथमें ही है। हम और आप जिस समय उनकी रुचिके अनुसार काम करेंगे, उस समय भी उनकी स्मृति हमें और आपको बनी रहेगी। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति समझना चाहिये।

अतएव भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेकी इच्छावाले प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌की दयापर निर्भर रहना चाहिये, उसे देख-देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। और, उनकी प्रसन्नताके अनुसार ही कार्य एवं निरन्तर उनका स्मरण करते रहना चाहिये। **'मामनुस्मर युध्य च।'**

भक्तिका अनुशीलन

(लेखक—डॉ० श्रीमृत्युंजयजी उपाध्याय)

भारतीय विचारकोंके अनुसार 'धर्मका प्रवाह—कर्म, ज्ञान और भक्ति—इन तीन धाराओंमें प्रवाहित तीनों स्रोतोंकी संयुक्त त्रिवेणी है। इनके सामञ्जस्यसे धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशामें रहता है। किसी एकके भी अभावसे वह विकलाङ्ग हो जाता है। कर्मके बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञानके बिना अन्धा और भक्तिके बिना हृदयहीन या निष्प्राण हो जाता है।' ज्ञानके सच्चे अधिकारी विरले ही मिलते हैं। समुन्नत और विकसित व्यक्ति संख्यामें अपेक्षाकृत कम हैं। अतः कर्म और भक्तिका आश्रय लेकर ही भव-सागर पार करनेकी तैयारी करनी पड़ती है। ज्ञानका फल भक्तिके मधुर रसके अभावमें अपरिपक्व है। भक्ति परम पुरुषार्थ है। भक्तिके प्रभावसे भक्त भागवतोत्तम होकर अन्तमें भगवद्रूप ही हो जाता है। उसीकी सत्ताकी उसे सर्वत्र अनुभूति होती है। भक्त भगवान्‌को छोड़ किसी अन्यको नहीं जानते। श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर हरिका कथन है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(११।२।४५)

जो समस्त प्राणियोंमें अपना भगवत्स्वरूप देखता है और सब प्राणियोंको अपने भगवत्स्वरूपमें देखता है, वही उत्तम भक्त है। सूरदासजीने जैसे श्रीराधाके भावको—**'जित देखौं तित स्याममयी है।'** आदि शब्दोंमें व्यक्त किया है। उसी प्रकार तुलसीने भी **'सियाराम मय सब जग जानी।'** और दूसरोंने **'लाली मेरे लालकी जित देखौं तित लाल'** इत्यादि पदोंके द्वारा इसी अनुभूत सत्यकी व्यञ्जना की है।

भक्तिरसायनका पानकर साधक जन्म-जरा-मरणके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। इससे ज्ञान, प्रकाश और अमरताकी स्रोतस्विनी प्रवाहित होने लगती है। अभावोंका तिरोभाव एवं अनित्यताका नित्यतामें रूपान्तर हो जाता है। रोम-रोमसे अलौकिक

दिव्य आभा फूटने लगती है—'रोम रोम दीपक भया प्रगटे दीनदयाल।' दीनदयालका यह प्राकट्य भक्तिकी चरमावस्थाका द्योतक है और रोम-रोमका दीपक होना उसके कारणका। भक्तिका कारण भगवत्कृपा है और उनकी कृपा आत्म-समर्पण एवं निश्छल हृदयकी अपेक्षा रखती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने प्रेमके लिये इसका समर्थन किया है—

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुबर प्रेमप्रसूति॥
(दोहावली)

यह शुद्रता, साधुता, सरलता तथा निर्मलता प्रभुका प्रसाद है। इसकी प्राप्ति उतनी सुगम भी नहीं है—

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई।
(विनयप० १६७। १)

पूर्वजन्म या इस जन्ममें निरन्तर भक्तिकी साधना करनेवाला ही मछलियोंकी तरह भक्तिमें कौशल प्राप्त करता है—छोटी मछलियाँ भी प्रखर जल-प्रवाहतकमें नाचती-फिरतीं ऊपर चढ़ जाती हैं, पर विशालकाय गज नीचे बह जाता है। बालूमें मिली चीनीको अलग करना कितना कठिन है, पर चींटी उसे आसानीसे अलग कर लेती है—

जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सन्मुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बलतें न कोउ बिलगावै॥
अति रसंग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै॥
सोक-मोह भय-हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥
(विनयपत्रिका १६७। २, ३, ५)

जो अतिशय विरागी है, विरक्त है, शोक, मोह, भय, हर्ष, देशकालसे निर्विकार—अव्याप्त है, वही प्रभु-कृपाका अधिकारी है। आत्मार्पणकी चरमावस्थामें भक्त प्रभुके प्रति अगाध विश्वास और आस्थासे संचालित होता है—

साहिब तुम ही दयाल हो, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को, सूझे और न ठौर॥

उसका मन अन्यत्र रम नहीं सकता, विश्राम पा नहीं सकता-जैसे—'उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै।' द्रौपदी जबतक अपना एक हाथ साड़ीपर रखे, श्रीकृष्णको टेरती रही, तबतक वे नहीं आये; परंतु ज्यों ही दोनों हाथ ऊपर उठाकर असहाय हो पुकार की; श्रीकृष्ण दौड़े चले आये।

निबहौ बाँह गहे की लाज।
द्रुपद-सुता भाषत नँदनंदन कठिन बनी है आज।

और उसका तत्काल प्रभाव भी कितना चमत्कारी है—

'पूरे चीर बहुरि तनु कृष्णा ताके भरे जहाज।
खींचि खींचि थाक्यो दुःशासन, हाथनि उपजी खाज।'
(सूरसागर २५५)

शील भक्तिका आन्तरिक लक्षण है। बिना उसके हृदयका परिष्कार एवं उदात्तीकरण नहीं हो सकता। इसीलिये तुलसीने अनन्त शक्ति-सौंदर्य-समन्वित शीलकी प्रतिष्ठा कर उसे मानवताके उच्च धरातलपर आसीन कर दिया है। मनुष्यताको प्राप्त संवेदन-शील और भक्तियुक्त हृदय ही शीलसिंधुमें अवगाहन कर सकता है—

सुनि सीतापति-शील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
(विनय-पत्रिका १००)

भक्तिके बिना मनुष्यके गुण व्यर्थ-से हैं—

सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥
(विनयपत्रिका १७५)

अपने आराध्यके प्रति महत्ताका बोध जितना ही व्यापक और गंभीर होगा, भक्तमें दैन्य, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदिकी अनुभूति-की मात्रा भी उसी अनुपातमें होगी। जैसे-जैसे प्रभुके महत्त्वका सांनिध्य-बोध होता जायगा, वैसे-वैसे भक्त-हृदयकी स्फुट भावनाओंका विकास और महत्त्व बढ़ता जायगा। मानो ये भाव महत्त्वकी ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व इन भावोंकी ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार लघुत्वका महत्त्वमें लय हो जाता है। भक्तिका मूल तत्त्व महत्त्वकी अनुभूति है। लघुत्व एवं दैन्यकी भावना-का उदय भी तभी होता है—

राम सों बड़ो है कौन, मोंसो कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन, मो सो कौन खोटो॥
(विनयपत्रिका ७२। २)

प्रभुके महत्त्वके समक्ष होते ही भक्तको अपनी लघुताका बोध होने लगता है। उसे उनकी महत्ताके वर्णनमें बड़ा आनन्द आता है। उसे अपनी लघुता सालती है और भीतर-ही-भीतर उसको परिमार्जित करती रहती है। सूरदासकी आत्म-स्वीकारोक्ति एवं आत्म-ग्लानि इन पङ्क्तियोंमें मुखरित है—

किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए।
तेल लगाइ कियो रुचि-मर्दन बस्त्रहिं मलि-मलि धोए।
तिलक बनाय चले स्वामी ह्वै विषयिन के मुख जोए॥
(सूरसागर)

पर, प्रभुके चरणोंका भरोसा है—'भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो', इस आश्रयत्वमें कितनी आस्था और विश्वास है! भगवद्भक्तोंको सब स्थितियाँ सहज स्वीकार्य हैं—

जैसें राखहु तैसें रहौं।
जानत हौ सुख-दुःख सब जनके, मुख करि कहा कहौं॥
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि, कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक चढ़ौं तुरंग, महागज, कबहुँक भार बहौं॥
(सूरसागर)

प्रेम निर्बाध और अबाध है। अपेक्षा है निश्छल पुकारकी। भक्तोंकी ऐसी निश्छल पुकार भगवान्‌को नंगे पाँव दौड़नेके लिये विवश कर देती है, चाहे अजामिल, गणिका, गीध कोई भी पुकारे। भावके भूखे भगवान् केलेके गूदे और छिलकेका अन्तर नहीं मानते। व्याध, ध्रुव, सुदामा, गज, विदुर, यादवेश उग्रसेन इत्यादिमें क्या खूबी थी? परंतु प्रभुने उनका उद्धार किया। भक्तिके लिये प्रेमकी उत्कटता और निश्छलता चाहिये—

रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जेहि जाननिहारा॥
(रामचरितमानस)

प्रभुके लिये उनकी प्रियवस्तु भक्तके लिये प्रियतर और अप्रिय, अप्रियतर है। भक्त रसखानके हृदयकी अभिव्यक्ति है—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन
और या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।

भक्ति-पथमें हरि-विरोधीका सङ्गत्याग भी उतना ही आवश्यक है—**छाड़ि मन हरि बिमुखनको संग।**
जिनके संग कुबुधि उपजतु हैं, परत भजनमें भंग॥
(सूरसागर)

भक्ति निष्काम-कर्मयोग चाहती है—यहाँ आदान-प्रदानका भाव नहीं, मुक्तिकी कामना नहीं। किसी भक्तका उद्गार है—'**कह मुक्ति तुझे किसलिये भला मैं पाऊँ।**' भक्तको अनवरत भक्ति ही प्रिय है। भक्त जब पूर्ण समर्पणकी अवस्थामें भावविभोर हो जाता है, तब सर्वत्र छवि हरि अपने प्रभुकी निहारता है—

दर दीवार दरपन भया, जित देखौं तित तोहि।
कंकड़ पत्थर ठीकरी, भई आरसी मोहि॥
(कबीर-ग्रन्थावली)

नाम-स्मरण भक्तिके लिये अनिवार्य उपादान है। नामकी महिमा संतोंने मुक्त-कण्ठसे गायी है। नाम-स्मरण-मात्रसे मन विकारहीन हो जाता है। पुष्पके समान हल्का एवं सुगंधमय हो जाता है। पापरूपी सूखी घासके लिये भगवन्नाम चिनगारी है, जो उसे भस्म कर देती है—

जबै नाम हिरदय धरा, भया पापका नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुरानी घास॥
(कबीरवचनावली)

तुलसीदासजीने एक बारके राम-नाम-स्मरणको ही भवसागर तरनेके लिये पर्याप्त कहा है—

जासु नाम सुमिरत इकबारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥

किंतु यह नामस्मरण नामीके प्रति पूर्ण प्रेममय समर्पण और हृदयकी सच्ची पुकारसहित सार्थक होना चाहिये। हम सारे कर्मोंको मुक्तभावसे, निर्लिप्त होकर करते चलें, साथ ही भगवान्‌के नाम-स्मरणका सदैव ध्यान रखें। जिस प्रकार सुई चलती रहती है, पर यदि उसका धागा छूट जाता है तो सिलाई नहीं होती, उसी प्रकार जगत्‌के सारे क्रियाकलापोंके मध्य भगवत्स्मरणरूपी धागा लगा रहना, चाहिये। तभी जीवनकी सार्थकता है।

मनुष्य-जीवनके कुछ दोष

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत वचन)

कुसङ्गति, कुकर्म, बुरे वातावरण, खान-पानके दोष आदि अनेक कारणोंसे मनुष्यमें कई प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो देखनेमें छोटे मालूम होते हैं, (यही क्यों ?) बल्कि आदत पड़ जानेसे मनुष्य उन्हें दोष ही नहीं मानता, पर वे ऐसे होते हैं, जो जीवनको अशान्त, दुखी बनानेके साथ ही उन्नतिके मार्गको भी रोक देते हैं और उसे अधः-पातकी ओर ले जाते हैं। ऐसे दोषोंमेंसे कुछपर यहाँ विचार किया जा रहा है---

१-मुझे तो अपनेको देखना है—इस विचार-वाले मनुष्यका स्वार्थ छोटी-सी सीमामें आकर गंदा हो जाता है। 'किस काममें मुझे लाभ है, मुझे सुविधा है', 'मेरी सम्पत्ति कैसे बढ़े', 'मेरा नाम सबसे ऊँचा कैसे हो', 'सब लोग मुझे ही नेता मानकर मेरा अनुसरण कैसे करें'—इसी प्रकारके विचारों और कार्योंमें वह लगा रहता है। 'मेरे किस कार्यसे किसकी क्या हानि होगी', 'किसको क्या असुविधा होगी', 'किसका कितना मानभङ्ग होगा', किसके हृदयपर कितनी ठेस पहुँचेगी, कितने मेरे विरोधी बन जायँगे'—इन सब परिणामोंपर विचार करनेकी इच्छा गंदे स्वार्थी हृदयमें नहीं होती। वह छोटी-सी सीमामें अपनेको बाँधकर केवल अपनी ओर देखा करता है; फलस्वरूप उसके द्वारा अपमानित, क्षतिग्रस्त, असुविधा-प्राप्त लोगोंकी संख्या सहज ही बढ़ती रहती है, जो उसकी यथार्थ उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुँचाते हैं।

२-भगवान् और परलोक किसने देखे हैं ?—भगवान् और परलोकपर विश्वास न करनेवाला मनुष्य यह कहा करता है। ऐसा मनुष्य स्वेच्छाचारी होता है और किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। अमुक बुरे कर्मका फल मुझे परलोकमें, दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा या अन्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् सब कर्मोंको देखते हैं, उनके सामने मैं क्या उत्तर दूँगा—इस प्रकारके विश्वासवाला मनुष्य सबके सामने तो क्या, छिपकर भी पाप नहीं कर सकता। पर जिसका ऐसा विश्वास नहीं है, वह केवल कानूनसे बचनेका ही प्रयत्न करता है। उसे न तो बुरे कर्मसे अर्थात् पापसे घृणा है, न उसे किसी पारलौकिक दण्डका भय है। आजकलकी घूसखोरी-चोरबाजारीका प्रधान कारण यही है और जबतक यह अविश्वास रहेगा, तबतक कानूनसे ऐसे पाप नहीं रुक सकते। पापोंके रूप बदल सकते हैं, पर उनका अस्तित्व नहीं मिट सकता। और, जब मनुष्यका जीवन इस प्रकार पापपङ्कमें स्वेच्छापूर्वक फँस जाता है, तब उसकी उन्नति कैसे हो सकती है ? वह तो वस्तुतः अवनतिको ही—अधःपातको ही उन्नति और उत्थान मानता है। ऐसे मनुष्यको इस लोकमें दुःख प्राप्त होता है और भजन-ध्यानकी उससे कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे भी वह वञ्चित ही रहता है। उसे भविष्यमें बार-बार आसुरी योनि और अधमगति ही प्राप्त होती है। यही बात भगवान् गीतामें कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६। २०)

३-मेरा कोई क्या कर लेगा ?—संसारमें सभी मनुष्य सम्मान चाहते हैं। जो मनुष्य ऐंठमें रहता है, दूसरोंको सम्मान नहीं देता, कहता है—'मुझे किसीसे क्या लेना है, मैं किसीकी क्यों परवा करूँ, मेरा कोई क्या कर लेगा ?' वह इस अभिमानके कारण ही अकारण लोगोंको अपना वैरी बना लेता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके घरके और बन्धु-बान्धव भी

उसके पराये हो जाते हैं। वह अभिमानवश स्वयं किसीकी परवा नहीं करता, किसीके सुख-दुःखमें हिस्सा नहीं बँटाता और उनसे अपनेको पुजवाना चाहता है, फलस्वरूप सभी उससे घृणा करने लगते हैं और उसके द्वेषी बन जाते हैं। वह इसे अपना आत्मसम्मान या गौरव मानता है, पर है यह उसकी मूर्खता। इस प्रकारका अभिमान उसे सबसे बहिष्कृत—अकेला-असहाय बना देता है और इससे उसकी उन्नति रुक जाती है।

'क्या करूँ मैं तो निरुपाय हूँ, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता'—इस प्रकार आत्मविश्वाससे विहीन मनुष्य निराशा, विषाद, शोकमें निमग्न और अकर्मण्य-सा हो जाता है। 'पाप हैं; पर मुझसे वे नहीं छूट सकते', 'मुझमें अमुक दोष है, पर मैं उससे लाचार हूँ', 'काम तो बहुत उत्तम है, पर मैं उसे कैसे कर सकता हूँ', 'भगवान् हैं, महात्माओंको मिलते भी होंगे! पर मुझको क्यों मिलने लगे?' 'भजन करना अच्छा है, पर मुझसे तो हो ही नहीं सकता'—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें उत्साहहीन होकर जीवन-यापन करनेवाला मनुष्य न तो कभी उत्तम कार्य आरम्भ कर सकता है और न जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता ही पा सकता है।

'मेरा कोई नहीं है, सभी मुझसे घृणा करते हैं'—इत्यादि अपनेमें हीनताकी भावना करते-करते मनुष्यको ऐसा दीखने लगता है कि उससे सभी घृणा करते हैं। यों सोचते-सोचते वह स्वयं भी अपनेसे घृणा करने और अपनेको किसी भी योग्य न समझकर मुँह छिपाता फिरता है। 'कोई मुझे देख न ले, देखेगा तो घृणा करेगा'; इस प्रकार किसीके सामने आकर कुछ भी करनेका साहस उसका नहीं होता। ऐसा मनुष्य यदि कुछ करता भी है तो प्रायः घुल-घुलकर रोता हुआ ही करता है।

'मैं तो बस, दुःख भोगनेके लिये ही पैदा हुआ हूँ'—बात-बातमें चिढ़नेवाले और जरा-जरा-सी प्रतिकूलतापर दुःख माननेवाले पुरुषका सारा पौरुष चिढ़ने, अंदर-ही-अंदर जलने और दुःख भोगनेमें ही समाप्त हो जाता है। उसका दुःखदर्शी चिड़चिड़ा स्वभाव उसे पल-पलमें दुखी करता है। बिना चिढ़ाये ही उसे दीखता है कि अमुक मुझे चिढ़ा रहा है, अमुक मुझे दुःख देनेके लिये ही हँस रहा है। 'मुझपर दुःख-ही-दुःख आ रहे हैं।' 'मैं सुखी होनेका ही नहीं, मेरे भाग्यमें तो बस दुःख-क्लेश ही बदा है।' इस प्रकार कल्पित दुःखके घोर जंगलमें वह अपनेको घिरा पाता है। ऐसे मनुष्योंमें कई पागल हो जाते हैं। कुछ अपना अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य गम्भीरतासे किसी विषयपर विचार नहीं कर पाते, दिन-रात दुःख-चिन्तनमें और सभीको दुःख देनेवाला मानकर उनसे द्वेष करनेमें लगे रहते हैं। परिणामतः उदासी, निराशा, मुर्दनी, क्रोध, उद्विग्नता, मस्तिष्कविकृति, उन्माद आदि दोष इन लोगोंके नित्य सङ्गी बन जाते हैं।

४—जगत्में कोई अच्छा है ही नहीं—दोष देखते-देखते मनुष्यकी इस प्रकारकी आँखें बन जाती हैं कि बिना दोषके होते हुए भी उसको लोगोंमें दोष ही दिखायी देते हैं। वैसे ही, जैसे हरा चश्मा लगा लेनेपर सब चीजें हरी दिखायी देती हैं। उसे फिर कोई अच्छा दीखता ही नहीं। महापुरुष और भगवान्में भी उसे दोष ही दीखते हैं। उसका निश्चय हो जाता है कि जगत्में कोई भला है ही नहीं। अतएव वह स्वयं भी भला नहीं रह सकता। दिन-रात दोषदर्शन और दोषचिन्तन करते-करते वह बाहर और भीतरसे दोषोंका भण्डार बन जाता है।

५—लोग मुझे अच्छा समझें—इस भावनावाले मनुष्यमें दम्भकी प्रधानता होती है। वह अच्छा बनना

नहीं चाहता, अपनेको अच्छा दिखलाना चाहता है। यों जगत्‌को ठगने जाकर वह आप ही ठगा जाता है। उसके जीवनसे सचाई चली जाती है। लोग जिस प्रकारकी वेष-भाषासे प्रसन्न होते हैं, वह उसी प्रकारका वेष धारण करके वैसी ही भाषा बोलने लगता है। उसके मनमें न खादीसे प्रेम है, न गेरुआसे और न नाम-जपसे; पर अच्छा कहलानेके लिये वह खादी पहन लेता है, गेरुआ धारण कर लेता है और माला भी जपने लगता है। पर ऐसा करता है दूसरोंके सामने ही, जहाँ उनसे बड़ाई मिलती है। और, यदि इनके विरोध करनेपर लोग भला समझेंगे तो वह इन्हींका विरोध भी करने लगेगा। उसका प्रत्येक कार्य दम्भ और छल-कपटसे भरा होगा।

६–मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा—यह भी मनुष्यके अभिमानका ही एक रूप है। वह समझता है कि बस, 'अमुक कार्य तो मेरे किये ही होता है। मैं छोड़ दूँगा तो नष्ट हो जायगा। मेरे मरनेके बाद तो चलेगा ही नहीं।' ऐसा विचार दूसरोंके प्रति हीनता प्रकट करते हैं और उनके मनमें द्रोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं—होते हैं। तुम अपनेको बड़ा मानते हो, पर कौन जानता है कि तुमसे कहीं अधिक प्रभाव तथा गुण-सम्पन्न संसारमें कितने हैं, जिनके सामने तुम कुछ भी नहीं हो। किसी पूर्वजन्मके पुण्यसे अथवा भगवत्कृपासे किसी कार्यमें कुछ सफलता मिल जाती है तो मनुष्य समझ बैठता है कि 'यह सफलता मेरे ही पुरुषार्थसे मिली है, मेरे ही द्वारा इसकी रक्षा होगी। मैं न रहूँगा तो पता नहीं, क्या अनर्थ हो जायगा।' यों समझकर अभिमानसे नाच उठता है। और, जहाँ मनुष्यने अभिमानके नशेमें नाचना आरम्भ किया कि चक्कर खाकर गिरा!

७–अपनेको तो आरामसे रहना है—यह इन्द्रियारामविलासी पुरुषोंका उद्गार है। पैसा पासमें चाहे न हो, चाहे यथेष्ट आय न हो, चाहे कर्जका बोझ सिरपर सवार हो, पर रहना है आरामसे। आज-कल चला है, उच्चस्तरका जीवन (–High standard of living)। इसका अर्थ है—स्वाद-शौकीनी, विलासिता, फिजूल-खर्ची और झूठी शानकी गुलामी। सादा धोती-कुर्ता पहनिये तो निम्नस्तर है—कोट-पतलून उच्चस्तर है! जूते उतारकर हाथ-पैर धोकर फर्शपर बैठकर हाथसे खाइये तो निम्नस्तर है—टेबुलपर कपड़ा बिछाकर बिना हाथ-मुँह धोये, जूते पहने, कुर्सीपर बैठकर सबकी जूँठन खाना उच्चस्तर है! कुएँपर या नदीमें नदीकी मिट्टी मलकर नहाना और सादे कपड़े पहनना निम्नस्तर है—पाखानेमें नंगे होकर-टबमें बैठकर साबुन-क्रीम आदि लगाकर झरते हुए नलसे नहाना—उच्चस्तर है! अपनी हैसियतके अनुसार साधारण साग-सब्जीके साथ दाल-रोटी खाना निम्नस्तर है और किसी प्रकारसे प्राप्त करके चाय-बिस्कुट खाना, अण्डे खाना, शराब पीना और कबाब उड़ाना उच्चस्तर है! घरमें कथा-कीर्तन करना निम्नस्तर है और सिनेमा देखना उच्चस्तर है! सीधे-सादे व्यापार-व्यवहारसे थोड़ी जीविका उपार्जन करना निम्नस्तर है और ऊपरी चमक-दमक तथा छलभरे व्यवहारसे दूसरोंको ठगकर अधिक पैसा कमाना उच्चस्तर है! थोड़े खर्चसे घरका—व्याह-शादीका काम चलाना निम्नस्तर है और बहुत अधिक खर्च करके आडम्बर करना उच्चस्तर है! ऐसे उच्चस्तरमें सबसे अधिक आवश्यकता होती है—प्रमादकी और धनकी। सो प्रमादमें तो कोई कमी रहती नहीं, पर धनका अभाव रहता है। धनाभावकी पूर्तिके लिये चोरी, ठगबाजी, डकैती, घूसखोरी और बेईमानीके रास्ते पकड़ने पड़ते हैं। भगवान्‌ने (गीता १६। १२में) कहा है—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।

'विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायसे अर्थ-संग्रहका प्रयत्न करते हैं। हमारे यहाँ उच्चस्तरके जीवनका अर्थ था—सादगी, सदाचार, त्याग-तपस्या, पवित्र आचरण, आदर्श चरित्र, साधुभाव और भगवद्भक्ति। इनके स्थानपर आज झूठ, कपट, छल, विलासिता, उच्छृङ्खलता, दुराचार, यथेच्छाचार, अनाचार और भोगमय जीवनको उच्चस्तरका जीवन माना जाता है। तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धिका यही परिणाम है। इस प्रकार प्रमाद और पापमें लगे रहनेवाले मनुष्योंकी सच्ची उन्नति कैसे हो सकती है ?

इसी प्रकारके और भी बहुत-से दोष हैं, जो आदत या स्वभावसे बने हुए हैं। इन सब दोषोंसे सावधान होकर इनका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। लौकिक उन्नति चाहनेवाले और मोक्षकी इच्छावाले—दोनोंके ही लिये ये दोष घातक हैं।

साधु कौन और कैसे होते हैं ?

(लेखक—श्रीरामदासजी शास्त्री, महामण्डलेश्वर)

'साध्नोति परकार्यमिति साधुः' (साध्-उण् १ । १) इस व्युत्पत्तिके अनुसार साधु पुरुष वही है, जो धर्म तपपूर्वक परकार्यके साधनेमें संलग्न रहता है। मानसकारके—'साधु चरित सुभ चरित कपासू।…जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जगजस पावा॥' आदि कथन इसीकी व्याख्या हैं। अमरकोशके विविध प्रकरणोंमें तथा गीतामें भी यह 'साधु' शब्द चार बार ही आया है। आर्य, कुलीन, संत, सदाचारी, सज्जनादि इस शब्दके पर्याय हैं और शोभन वस्तु भी साधु है। हैमादि जैनकोशकारोंने जैन मुनियोंका नाम भी साधु माना है। विशेषतर साधुताके अर्थमें साधियस् और विशिष्टतम अर्थमें साधिष्ठादि प्रयोग बनते हैं। अन्य शास्त्रोंके अनुसार साधु पुरुष ये हैं—

न प्रहृष्यति सम्माने नापमाने च कुप्यति।
न क्रुद्धः पुरुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम्॥
(गरुडपुराण, १०)

यथालब्धेऽपि संतुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहंकारवर्जितः।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते॥
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९९ अ०)

संक्षेपमें इन वचनोंके अनुसार निन्दा-द्वेषादिसे सदा दूर रहनेवाला, शान्त, कृपालु, जितेन्द्रिय, परोपकार-परायण, हरिभक्तिपरायण व्यक्ति ही साधु है। साधुजन अपने सुखकी इच्छा नहीं करते। उनका मात्र परोपकार परायणता-परदुःखकातरताका ही जीवन होता है। विक्रमचरित्र, नागानन्द एवं अग्निपुराणादिके अनुसार साधुके लक्षण इस प्रकार हैं—इनमें उदाहरणके लिये इक्षुदण्ड ('ईख') एवं वृक्षका या समुद्रद्वारा वडवानलके पालनका दृष्टान्त भी दिया गया है—

त्यक्तात्मसुखभोगेच्छाः सर्वसत्त्वसुखैषिणः।
भवन्ति परदुःखेन साधवो नित्यदुःखिताः॥
परदुःखातुरा नित्यं स्वसुखानि महान्त्यपि।
नापेक्षन्ते महात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
परार्थमुद्यताः सन्तः सन्तः किं किं न कुर्वते।
तादृगप्यम्बुधेर्वारि जलदैस्तत प्रपदीयते॥
एक एव सतां मार्गो यदङ्गीकृतपालनम्।
दहन्तमकरोत् क्रोडे पावकं यदपाम्पतिः॥
आत्मानं पीडयित्वापि साधुः सुखयते परम्।
ह्लादयन्नाश्रितान् वृक्षो दुःखं च सहते स्वयम्॥
(अग्निपुराण)

काटै परशु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

'निष्पीडितोऽपि मधु च्युद्‌मतीक्षुदण्डः ।'

—आदि वचनोंमें भी यही भाव व्यक्त है। रामचरितमानसके अरण्यकाण्डके अन्तमें श्रीराम-नारद-संवाद तथा उत्तरकाण्डमें भी श्रीराम-भरत-संवादादिमें दो-तीन स्थलोंपर साधु (सदाचारी) असाधु (दुष्कृत्ति-दुराचारी)के लक्षण विस्तारसे निरूपित हैं, जिनमें—

षट बिकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी।

—इत्यादि लक्षण साधु (सदाचारी) पुरुषके मुख्य हैं। वहीं दुराचारियोंके लक्षण बताकर उनसे वचनेको कहा है—

सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिअ न काऊ॥

श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६६, १० । १० । १७-१८, ४१ आदिमें परोपकारपरायणता एवं समचित्तताको साधुओंकी विशेषता कही गयी है। गीता ४ । १२ तथा ९ । ३०-३१के मूल वचन एवं सभी व्याख्याओंके अनुसार भी विशुद्ध धर्मात्मा, सदाचारी सज्जन पुरुष ही साधु हैं। वे परमधर्मको मनसा-वाचा-कर्मणा धारण करते और दूसरोंका उपकार करते हैं। भगवत्-सम्बन्धको लेकर आचरित होनेसे वर्ण और आश्रम-धर्म ही परमधर्म बन जाते हैं। साधु पुरुष यदि कहीं जप-तप अथवा यज्ञादिमें संलग्न हैं तो वे श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता एवं विश्वकल्याणके लिये ही संलग्न होते हैं। उनकी निश्छल भक्तिकी बड़ी महिमा है। श्रीमद्भागवतमें नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌में विशुद्ध भक्तियोगके प्रयोगको परमधर्म कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २२)

इसी प्रकार भागवतमें अहैतुकी (फलेच्छारहित), अप्रतिहत (विघ्नोंके द्वारा नष्ट न होनेवाली) आत्माको पवित्र करनेवाली, भगवच्चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न करनेवाली भक्तिको भी परमधर्म कहा गया है। इसी भक्तिको पुरुषमात्रका परमधर्म माना है। साधुगण इस परम धर्मद्वारा जगत्‌का कल्याण करते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । ६)

जीव मोहवश मायाके गुणोंमें आसक्त होकर मिथ्या पदार्थोंमें रमण करता है। वह तीव्र लिप्सासे विनाशशील भोगोंके प्रति आकर्षित होकर दिव्य आत्मानन्द एवं भगवदुपासना तकको भूल बैठता है। परंतु साधु सदा सजग रहते हैं; क्योंकि एक बार भी यह जीव जब आत्माके अनन्त आनन्दको पा लेता है, तब उसे सांसारिक वासनाओंका विषैला, अनित्य सुखाभास क्षणभर भी अच्छा नहीं लगता। साधु पुरुष ऋषि-मुनि स्वप्रकाशस्वरूप आत्मामें रमण करनेके कारण—'आत्माराम' कहे गये हैं। ऐसे आत्माराम मुनि भी श्रीभगवान्‌के दिव्य गुणोंसे आकृष्ट होकर अहैतुकी भक्तिके पथपर अग्रसर होते हैं, यह भगवद्गुणोंकी विशेषता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने साधुओंके द्वारा आचरित दूसरा सहज धर्म भगवद्भजन बताया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९ । १४)

यहाँ भी साधु भक्तके स्वरूप-लक्षणोंका ही वर्णन है। भक्त श्रीकृष्णके कीर्तनमें तन्मय रहेगा। नित्य-निरन्तर भगवत्-कीर्तनके अतिरिक्त उसे अन्यत्र कहीं भी कोई लाभ नहीं सुहाता। वह भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवद्रूप, भगवद्गुण

तथा अद्भुत भगवच्चरितकी स्तुतिके रूपमें निज-आराध्यका गुणगान ही करता रहता है—

'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतुरहित परहित रत सीला।'

दृढ़व्रती एवं निश्चयात्मिका चेष्टाके साथ प्रणाम करते हुए निरन्तर प्रभु-आराधना करते रहनेसे भक्ति या साधुताकी उपलब्धि होती है। इसीलिये (भागवत ९। ४। ६९) में भगवान्‌को साधुओंका हृदय कहा गया है। इस प्रकार साधक, साधु, संत, भक्त, धर्मात्मा, योगी सभी एक ही मार्गके पथिक हैं। ये शब्द पर्यायवाची* भले न हों, पर हैं तत्त्वतः सभी एक ही। तभी गीतावक्ताने—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'अनन्य भक्तको ही 'योगी' कहा और नारदपुराण-के प्रारम्भिक अध्यायमें भक्तके लिये वर्णधर्मादिके आश्रयको भी परमावश्यक बतलाया है; क्योंकि धर्मार्थ ही श्रीभगवान्‌के अवतार होते हैं। कहा भी है—

'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।'
"स्वधर्मकर्मविमुखा रामकृष्णेति राविणः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥"

यद्यपि शरणमें आने और अनन्य भजन करनेपर भगवान् दुराचारी तकको भी धीरे-धीरे धर्मात्मा एवं साधु बना लेते हैं, यह उनकी विशेषता है, पर दुराचारी है—असाधु, दुष्कृतिका ही पर्याय। भारतीय विद्वानों तथा विचारक महात्माओंने शब्द, देश, काल, स्थान, पात्र, अन्नादिकी पवित्रता, साधुतापर भी गम्भीर विचार किया है। भर्तृहरिने 'वाक्यद्वीप'में अपभ्रंशता आदिसे रहित कल्याण-कर शुद्ध शब्दोंको भी साधु माना है—

अनपभ्रंशताऽनादिर्यद्वाभ्युदययोग्यता।
व्याक्रियाद्या व्यञ्जनीया वा जातिःकापीह साधुता।

शेष देश, काल, पात्रादिकी साधुताके लिये याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी सुबोधिनी, अपरार्क मिताक्षरादि टीका-निबन्ध ग्रन्थ देखना चाहिये।

साधुपुरुष और धर्म

धर्माधर्मविवेकेन वेदमार्गानुसारिणीः।
सर्वलोकहितासक्ताः साधवः परिकीर्तिताः॥
हरिभक्तिकरं यत्तत् सद्भिश्च परिरक्षितम्।
आत्मनः प्रीतिजनकं तत् पुण्यं परिकीर्तितम्॥

(नारदपु० ६। २९—३१)

'जो लोग धर्म और अधर्मका विवेक करके वेदोक्त मार्गपर चलते हैं तथा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं, उन्हें 'साधु' कहा गया है। जो भगवान्‌की भक्तिमें सहायक है, साधु-पुरुष जिसका पालन करते हैं तथा जो अपने लिये भी आनन्ददायक है, उसे 'धर्म' या पुण्य कहते हैं।'

(यही धर्म साधु पुरुषोंके धारण योग्य होता है।)

---

* अग्निपुराणके वचनमें भी इसे पर्याय जैसा ही माना गया है।

उपनिषद्-विचारधाराका सामयिक महत्त्व

(लेखक—श्रीमानसिंहजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, वेदाचार्य)

उपनिषदोंमें प्रतिपादित विचारधारा सार्वभौम है। इनके गम्भीर मधुर तत्त्व-चिन्तनपर अनेक अन्य मतावलम्बी दार्शनिक विचारक भी मुग्ध रह गये हैं। मंसूर, सरमद, फैजी, बुल्लाशाह तथा दाराशिकोह इत्यादि इनके सिद्धान्तोंको ही अपने जीवनका सर्वस्व मानते थे। मंसूर तथा सरमदने तो सिरतक गवाँया, पर इसे न छोड़ा। मैक्सम्यूलर, शॉपेनहर, पॉलडायसन तथा ब्लूमफील्ड प्रभृति पाश्चात्त्य विद्वानोंने उपनिषदोंके महत्त्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। मैक्सम्यूलरके मतमें—'उपनिषद् उस वेदान्तदर्शनके स्रोत हैं, जिनमें मानव-विचार अपने उच्चतम शिखरपर आरूढ़ प्रतीत होते हैं। शॉपेनहरका कथन है कि 'सम्पूर्ण विश्वमें उपनिषदोंके समान उपयोगी तथा उदात्त स्वाध्याय नहीं है, वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। एक-न-एक दिन यही जनताका धर्म होगा।' पॉल डायसनके विचारानुसार—'उपनिषदोंमें दार्शनिक सत्यकी ऐसी अभिव्यञ्जना तथा परम श्रेयस्कर आत्म-विद्याके सिद्धान्तोंका ऐसा मार्मिक विवेचन है, जो विश्वमें कदाचित् ही कहीं उपलब्ध हो।' ब्लूमफील्डकी मान्यता थी कि 'कोई भी महत्त्वपूर्ण हिंदू-विचार, चाहे वह नास्तिक-बौद्धदर्शन ही क्यों न हो, ऐसा नहीं है, जिसका मूल उपनिषदोंमें निहित न हो।' इस प्रकार विश्वके विविध देशवासी तथा विविध धर्मावलम्बी संत एवं विद्वान् औपनिषद-दर्शनके भक्त रहे हैं।

उपनिषदोंमें प्रतिपादित विचारधारा सार्वकालिक है। इनमें मानवके आध्यात्मिक जीवनसे सम्बद्ध रहस्योंका ही नहीं, अपितु लौकिक-सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी तथ्योंका भी सम्यक् निरूपण हुआ है। उपनिषदें मानवके आन्तरिक तथा बाह्य जीवनके मार्गको प्रशस्त बनाकर सफल एवं सार्थक जीवन जीना सिखाती हैं। उनमें ज्ञान तथा कर्मके समन्वयकी शिक्षा दी गयी है। उनका मुख्य विषय ब्रह्मविद्या अथवा आत्मज्ञान है; तथापि उनमें मनुष्यको लौकिक जीवनमें सुखी, सम्पन्न, स्वस्थ, बलिष्ठ, दीर्घजीवी, कर्तव्य-परायण तथा नानाविध सिद्धि-समृद्धियोंसे युक्त होनेके कारण अनेकानेक उपायों तथा साधनाओंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। वे मनुष्यकी काम, क्रोध, लोभ, मोह, परिग्रह, शोक, भय, मृत्यु इत्यादि कालजयी समस्याओंका समाधान प्रस्तुत करती हैं और सदाचार, शास्त्राध्ययन, सत्यभाषण, जितेन्द्रियता, मनोनिग्रह, शुभ कर्म, निरभिमान-भाव, समदृष्टि, अद्वैतभावना, व्यक्तिकी आन्तरिक एवं बाह्य पवित्रता तथा मानवोचित सदाशयपूर्ण व्यवहारपर बल देती हैं। यदि ये गुण हमारे जीवनके अङ्ग बन जायँ तो सचमुच इस भूतलपर ही अमरलोक उतर आये।

औपनिषद-दर्शनकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि विविधतापूर्ण विराट् जगत्में ऐक्यका अन्वेषण है। इस एक सर्वव्यापक तत्त्वको उन्होंने पुरुष, ब्रह्म अथवा आत्मा नामसे अभिहित किया है। 'ईशोपनिषद्'के **'ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्'**—'यह सब ईश्वरद्वारा व्याप्त है; 'कठोपनिषद्'के **'नेह नानास्ति किंचन'**—'इस जगत्में नानात्व नहीं है', (२।१।११), 'श्वेताश्वतर०'के—**'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'**—'एक देव सब भूतोंमें छिपा है', (६।११), 'मुण्डक०'के **'पुरुष एवेदं विश्वम्'** 'यह सब कुछ पुरुष ही है, (२।१।१०), 'छान्दोग्य०'के **'एकमेवाद्वितीयम्'** 'एक ही अद्वितीय है,' (६।२।१), और 'बृहदारण्यक०' के **'इदꣳसर्वं यदयमात्मा'**—

यह सब यह आत्मा है, (२ । ४ । ६, ४ । ५ । ७)— इत्यादि वाक्योंमें इसी महान् सत्यका उद्घोष है । यदि आज हम इस सत्यको हृदयंगम कर लें तो विश्वके देशोंका पारस्परिक वैमनस्य, चतुर्दिक् व्याप्त असुररक्षाकी भावना तथा विभिन्न धर्मों, जातियों एवं वर्गोंके व्यक्तियोंके आपसी भेदभाव सदाके लिये मिट जायँ और हम एक दूसरेके सुख-दुःख तथा हानि-लाभको अपना सुख-दुःख तथा अपना हानि-लाभ समझने लगें, आपसी भेदभावको त्यागकर प्रेम तथा सौहार्दका व्यवहार करने लगें और ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणा आदि अवगुणोंको तिलाञ्जलि देकर सदाके लिये सुखी बन जायँ । इस विषयमें 'ईशोपनिषद्' (६-७)के ये मन्त्र कितने महत्त्वपूर्ण हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

'जो सब भूतोंको अपने आत्मामें ही और सब भूतोंमें अपने आत्माको ही देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता । जिस विज्ञानवान् व्यक्तिकी दृष्टिमें सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हैं, उस एकत्वका दर्शन करनेवाले व्यक्तिको भला कैसा मोह, और कैसा शोक ! 'माण्डूक्योपनिषद्'में इस अद्वैतभावनाको परम कल्याणकारिणी घोषित किया गया है—**'अद्वयता शिवा'** (वैतथ्यप्रकरण ३३)। आजके विश्वके लिये उपनिषदोंका यह कितना महनीय संदेश है । औपनिषद साम्यवाद तथा समाजवाद समस्त जगत्को ईश्वरद्वारा व्याप्त मानता है । उसे ईश्वरकी सम्पत्ति मानता है । अतः मनुष्य-विशेषका यहाँ कुछ भी नहीं है । इसलिये उसे जो कुछ भी मिला है, दूसरोंमें बाँटकर उसका उपभोग किया जाना चाहिये । किसीके भी धनकी इच्छा नहीं करनी चाहिये—'ईशोपनिषद्'का प्रथम मन्त्र देखिये—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यदि आज मानवमात्र इस शुभ भावनाको स्वीकार कर ले तो संसारमें व्याप्त समस्त चोरी-डकैतियाँ, लूट-खसोट, मुनाफाखोरी, चोरबाजारी, तस्कर-व्यापार आदि अर्थ-प्राप्तिहेतु नानाविध अनैतिक आचरण, जो हमारे समाजकी समृद्धि तथा सुख-शान्तिके लिये घुन हैं, शीघ्र ही समाप्त हो जायँ और समाजमें पारस्परिक सद्भाव तथा प्रेम स्थापित हो जाय । 'कठोपनिषद्'में ठीक ही कहा है—'मनुष्य धनसे तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकता'—**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**(१ । १।२७) इसके लिये तो उसे आन्तरिक आत्मतोषकी आवश्यकता है । अतः आत्मतोषकी प्राप्तिके लिये सतत यत्नशील रहना पड़ेगा । उपनिषदोंमें व्यापक सह-अस्तित्व, सहयोग तथा आपसी सद्भावपर बल दिया गया है । 'कठोपनिषद्'-के शान्तिपाठके शब्द हैं—

सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।

अर्थात्—हम साथ-साथ एक-दूसरेकी रक्षा करें, साथ-साथ शक्तिका सम्पादन करें, हमारी अधीत विद्या हमारे लिये तेजःप्रदायक हो, हम परस्पर विद्वेष न करें । ये सिद्धान्त-वाक्य आज भी उतने ही सटीक हैं जितने कभी उपनिषत्कालमें थे । उपनिषदोंमें समृद्धिहेतु सन्मार्गपर चलने तथा कुटिलता एवं पापाचरणसे बचनेका उपदेश है । 'ईशोपनिषद्' (१८)का यह मन्त्र देखिये—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

'समस्त मार्गोंके ज्ञाता अग्ने ! हमें धन-प्राप्त्यर्थ शोभन मार्गसे ले जाइये, कुटिलतापूर्ण पापको हमसे अलग कर दीजिये । हम अत्यधिक नमस्कारपूर्ण आपकी प्रार्थना करते हैं । सुपथपर चलने तथा

कुटिलता एवं पापाचरणसे बचनेकी हमें आज भी उतनी ही आवश्यकता है। हमें आज प्रेयस्‌की अपेक्षा श्रेयस्‌का ही वरण करना चाहिये। 'कठोपनिषद्'का यह पवित्र उद्बोधन आज भी हमारा निरन्तर मार्ग-दर्शन करता है—**'श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते'** (धीर व्यक्ति प्रेयस्‌की अपेक्षा श्रेयस्‌का वरण करता है, १। २। २)। 'माण्डूक्योपनिषद्'के शान्तिपाठके ये शब्द—**'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'** अर्थात्—हे देवो! यज्ञकर्ममें समर्थ हमलोग कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें और आँखोंसे शुभ दर्शन करें। हमें आज भी अच्छा सुनने तथा शुभ देखनेका उपदेश करते हैं और बापूके प्रेरणा स्रोत तीन बंदरोंकी हमें अनायास ही याद दिला देते हैं।

आज अध्यापकों तथा विद्यार्थियोंके सम्बन्धोंमें तनाव, विद्यार्थि-जगत्‌में व्याप्त असन्तोष तथा अनुशासनहीनता और अध्ययनके स्थानपर हड़तालें, जो आधुनिक विद्याक्षेत्रकी सामान्य बातें हो गयी हैं, उपनिषत्कालमें ऐसी कोई समस्या न थी। उस कालमें आचार्य तथा शिष्यके पारस्परिक सम्बन्ध सद्भावपूर्ण थे, तथा गुरुके प्रति शिष्योंकी श्रद्धा और सम्मानकी भावनाएँ थीं। शिष्य राजनीतिसे सर्वथा दूर रहकर दत्तचित्त हो अध्ययनपरायण रहते थे; अतः विघटनात्मक कार्योंके लिये उन्हें अवकाश ही न था। आचार्य अपने शिष्यको यह मङ्गलमय उपदेश किया करता था—**यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।**

'जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरोंका नहीं। हमारे जो शोभन आचरण हैं, उन्हींकी तुम्हें उपासना करनी चाहिये, दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं।' तैत्तिरीयोपनिषद् (१। १०) के आचार्यका यह निरभिमान शुभ वचन आजके कितने ही अहम्मन्य गुरुओंके लिये एक सशक्त प्रेरणादायी उपदेश है। उपनिषदोंमें कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेका उपदेश है, अकर्मण्य होकर नहीं। 'ईशोपनिषद्' (२)का वचन है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

अर्थात्—हम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी कामना करें। यह मानो उपनिषत्कालीन समाजका 'आराम हराम है' का नारा था, जो आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदोंमें समृद्धिके प्रमुख साधन—अन्नकी महिमाका गुणगान किया गया है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्'में अन्न-वृद्धि करनेका सक्षम उपदेश है—**'अन्नं बहु कुर्वीत'** अर्थात्—अन्नको बढ़ाये (३। ९) लगता है जैसे ऋषि उच्चस्वरसे 'अधिक अन्न उपजाओ'का प्रेरक नारा दे रहे हों।

इस प्रकार औपनिषद विचारधारा आजके विश्वके लिये अनेकानेक ठोस एवं महत्त्वपूर्ण संदेश लेकर उपस्थित होती है। आजके संदर्भमें भी उसका महत्त्व अक्षुण्ण है। आजके विश्वको झकझोरकर जैसे उपनिषदें कह रही हों—**'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'**—'उठो, जागो, श्रेष्ठजनोंको प्राप्तकर बोध ग्रहण करो (कठोपनिषद् १। ३। १४)। **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** कल्याणके लिये ज्ञानार्जनके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १५)

भगवद्गीता भी इन्हीं उपनिषदोंका सारामृत है—**'सर्वोपनिषदो गावो दुग्धं गीतामृतं महत्।'** और वह भी निरन्तर यही कहती है—**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।** और भागवत तो ज्ञानको साक्षात् परमात्मा ही मानता है—**'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'** (श्रीमद्भा० १। २। ११) वस्तुतः 'उपनिषद्' एवं 'ज्ञान' परस्पर पर्याय-से ही हैं।

गीताका कर्मयोग—२९

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क—११, पृष्ठ-सं० ४५३से आगे)

सम्बन्ध—अब भगवान् इसी अध्यायके पचीसवें श्लोकमें वर्णित विद्वान् और अविद्वान् पुरुषोंका विवेचन अगले तीन श्लोकोंमें करते हैं ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

भावार्थ—सत्त्व, रज और तम—तीनों प्रकृतिके गुण हैं । इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य होनेसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी प्रकृतिके गुण कहे जाते हैं । सम्पूर्ण क्रियाएँ सब प्रकारसे इन गुणों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि)के द्वारा ही की जाती हैं ।

यद्यपि सम्पूर्ण क्रियाएँ सब प्रकारसे शरीर, इन्द्रियों इत्यादि (प्रकृतिके गुणों-)के द्वारा ही की जाती हैं, तथापि इन शरीरादिको (अपना स्वरूप) 'मैं' मान लेनेके कारण अविद्वान् (अज्ञानी) पुरुष उनसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है । स्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष केवल मान्यतासे अपनेमें कर्तापनका आरोप कर लेता है । यह 'माना' हुआ कर्तापन 'न मानने' से सुगमतापूर्वक मिटाया जा सकता है ।

जिस समष्टि शक्तिसे संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उसी शक्तिसे व्यष्टिकी भी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं । परन्तु मनुष्य कुछ क्रियाओं, जैसे शरीरका बढ़ना, भोजनका पचना, नाड़ियोंमें रक्तका संचालन, श्वासोंके आवागमन इत्यादिको तो स्वतः (समष्टि शक्तिसे) होनेवाली क्रियाएँ मान लेता है और कुछ क्रियाओं, जैसे देखना, सुनना, बोलना, खाना-पीना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याख्यान देना इत्यादिको अपने द्वारा की जानेवाली क्रियाएँ मान लेता है । यही उसकी भूल है ।

अन्वय—कर्माणि, सर्वशः, प्रकृतेः, गुणैः, क्रियमाणानि, अहंकारविमूढात्मा, अहम्, कर्ता, इति, मन्यते ॥ २७ ॥

पद-व्याख्या—

कर्माणि सर्वशः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं ।

जिस समष्टि शक्तिसे शरीर, वृक्ष आदि उत्पन्न होते और बढ़ते-घटते हैं, गङ्गा आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं, मकान आदि पदार्थोंमें परिवर्तन होता है, उसी समष्टि शक्तिसे मनुष्यकी देखना, सुनना, खाना-पीना इत्यादि सब क्रियाएँ होती हैं । परन्तु मनुष्य अहंकारसे मोहित होकर, अज्ञानवश एक ही समष्टि शक्तिसे होनेवाली क्रियाओंके दो विभाग कर लेता है—एक तो स्वतः होनेवाली क्रियाएँ, जैसे शरीरका बढ़ना, भोजनका पचना, श्वासोंका आना-जाना इत्यादि; और दूसरी, ज्ञानपूर्वक होनेवाली क्रियाएँ, जैसे भोजन करना, व्यापार करना, देखना, बोलना इत्यादि ।

प्रकृतिसे उत्पन्न गुणों-(सत्त्व, रज और तम-) का कार्य होनेसे बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय—ये सब भी प्रकृतिके गुण कहे जाते हैं । उपर्युक्त पदोंमें भगवान् स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ (चाहे समष्टिकी हों, चाहे व्यष्टिकी) प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही की जाती हैं ।

अहंकारविमूढात्मा—अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी (अविद्वान् पुरुष) ।

'अहंकार' अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। 'स्वयं' (आत्मा) उस वृत्तिका ज्ञाता है। परन्तु भूलसे 'स्वयं'को उस वृत्तिसे मिलाने अर्थात् उस वृत्तिको ही अपना स्वरूप मान लेनेसे यह मनुष्य विमूढात्मा कहा जाता है।

जैसे शरीर 'इदम्' (यह) है, वैसे ही, अहंकार भी 'इदम्' (यह) है। 'इदम्' (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है। जब मनुष्य भूलसे 'इदम्' को 'अहम्' मान लेता है, तब वह 'अहंकारविमूढात्मा' हो जाता है। यह माना हुआ अहंकार उद्योग करनेसे नहीं मिटता; क्योंकि उद्योग करनेमें भी अहंकार रहता है। माना हुआ अहंकार मिटता है अस्वीकृतिसे अर्थात् 'न मानने' से।

विशेष बात—'अहम्' दो प्रकारका होता है—(१) वास्तविक (आधाररूप) अहम्*, जैसे 'मैं हूँ' (अपनी सत्तामात्र) और (२) अवास्तविक (माना हुआ) 'अहम्, जैसे—'मैं शरीर हूँ'। वास्तविक 'अहम्' स्वाभाविक एवं नित्य और अवास्तविक 'अहम्' अस्वाभाविक एवं अनित्य होता है। अतएव वास्तविक 'अहम्' विस्मृत तो हो सकता है, पर मिट नहीं सकता; और अवास्तविक 'अहम्' प्रतीत तो हो सकता है, पर टिक नहीं सकता। मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह वास्तविक 'अहम्' (अपने स्वरूप) को विस्मृत करके अवास्तविक 'अहम्' (मैं शरीर हूँ) को ही सत्य मान लेता है।

अहं कर्ता इति मन्यते—'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।

यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा ही किये जाते हैं, तथापि अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य कुछ कर्मोंका कर्त्ता अपनेको मान लेता है। कारण, वह अहंकारको ही अपना स्वरूप मान बैठता है। अहंकारके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिमें 'मैंपन' कर लेता है और उन (शरीरादि) की क्रियाओंका कर्त्ता अपनेको मान लेता है। यह विपरीत मान्यता मनुष्यने स्वयं की है, इसलिये इसे मिटा भी वही सकता है। इसे मिटानेका उपाय है—इसे न मानना; क्योंकि मान्यतासे ही मान्यता कटती है *।

एक 'करना' होता है, और एक 'न करना'। जैसे 'करना' क्रिया है, वैसे ही 'न करना' भी क्रिया है। सोना, जागना, बैठना, चलना, समाधिस्थ होना आदि सब क्रियाएँ हैं। क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है। 'स्वयम्' (चेतनस्वरूप) में करना और न करना—दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि वह इन दोनोंसे परे अक्रिय-तत्त्व है। यदि 'स्वयम्' में भी क्रिया होती, तो वह क्रिया (शरीरादिमें परिवर्तनरूप क्रियाओं) का ज्ञाता कैसे होता? करना और न करना वहाँ होता है, जहाँ 'अहं' ('मैं') रहता है। 'अहं' न रहनेपर क्रियाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। करना और

---

* यहाँ केवल समझनेकी दृष्टिसे 'वास्तविक अहम्' नाम दिया है। वास्तवमें यह 'अहम्' नहीं, अपितु वह 'आधार' है; जिससे 'अहम्' उत्पन्न होता है।

* नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

न करना—दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, उस अक्रियतत्त्व-(अपने स्वरूप-) में मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक स्थिति है । परन्तु 'अहम्' के कारण मनुष्य प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है । प्रकृति (जड़) से माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है ।

विशेष बात—जिस प्रकार समुद्रका ही अंश होनेके कारण लहर और समुद्रमें जातीय एकता है अर्थात् जिस जातिकी लहर है, उसी जातिका समुद्र है, उसी प्रकार संसार का ही अंश होनेके कारण शरीरकी संसारसे जातीय एकता है । मनुष्य संसार-को तो 'मैं' नहीं मानता, पर भूलसे शरीरको 'मैं' मान लेता है ।'

जिस प्रकार समुद्रके सिवा लहरका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार संसारके सिवा शरीरका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं । परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य जब शरीरको 'मैं' (अपना स्वरूप) मान लेता है, तब उसमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं; जैसे—मुझे स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि पदार्थ मिल जायँ, लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा आदर-सम्मान करें, मेरे अनुकूल चलें इत्यादि । उसका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि शरीरको अपना स्वरूप मानकर मैं पहलेसे ही बँधा बैठा हूँ, अब कामनाएँ करके और बन्धन बढ़ा रहा हूँ—अपनेको और विपत्ति में डाल रहा हूँ ।

साधनकालमें 'मैं (स्वयम्) प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'—ऐसा अनुभव न होनेपर भी जब साधक 'मैं प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'--ऐसा मान लेता है, तब उसे वैसा ही अनुभव हो जाता है । इस प्रकार जैसे वह गलत मान्यता करके बँधा था, वैसे ही सही मान्यता करके मुक्त हो जाता है; क्योंकि मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है । इसी तथ्यको भगवान्ने पाँचवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—'**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' पदोंमें 'मन्येत' पदसे प्रकट किया है कि 'मैं कर्ता हूँ' इस अवास्तविक मान्यताको मिटानेके लिये 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसी वास्तविक मान्यता करनी होगी ।

'मैं शरीर हूँ; मैं कर्ता हूँ' इत्यादि असत्य मान्यताएँ भी इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें छोड़ना कठिन प्रतीत होता है; फिर 'मैं अशरीर हूँ, मैं अकर्ता हूँ' इत्यादि सत्य मान्यताएँ दृढ़ कैसे नहीं होंगी ? और एक बार दृढ़ हो जानेपर फिर कैसे छूटेंगी ? (क्रमशः)

मुक्त जीवके लक्षण

अहंताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥

'अहंता-ममताके नाश होनेपर 'मैं कुछ भी नहीं करता'—इस प्रकार सम्पूर्ण अहंकारके निवृत्त हो जानेपर जीवात्मा जब अपने स्वरूपमें स्थित अर्थात् आत्मज्ञानमें निष्ठावान् होता है, तब वह जीव कृतार्थ या जीवन्मुक्त कहा जाता है ।'

—श्रीमद्वल्लभाचार्य

विश्वके सूत्रधार—परमात्माके अनुकूल बनें

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी पाहवा, एम्० ए०, बी०-एड्०, साहित्यरत्न)

आश्चर्यकी बात है कि हम जिन्हें पापी समझते हैं, वे भी कभी समय पाकर त्याग और बलिदानके उस उच्चादर्शको स्थापित कर देते हैं जिससे मानवता उनपर गर्व करने लगती है। समाज-विरोधी तत्त्व कहे जानेवाले और समाजसे अपमानित व्यक्ति भी कभी-कभी विधवाओं, अनाथों और गरीबोंकी सेवामें अपना जीवनतक बलिदान करते देखे जाते हैं। कठोरहृदय मनुष्य कभी-कभी दयामें इतने पिघल जाते हैं कि किसी जलते हुएको आगसे बचानेके लिये और डूबतेको निकालनेके लिये वे हँसी-खुशी, खेल-ही-खेलमें अपने प्राणोंको भी निछावर करनेमें नहीं चूकते। जीवनकी बाजी कौन जीत जाय और इस चौपड़के खेलमें पासा कब किसके हाथमें आ जाय, इसका कोई पता नहीं। कब क्या होगा, इसे सिवा परमात्माके और कोई नहीं जानता। सब कुछ करने-करानेवाला एकमात्र नियामक वही है। सर्वज्ञ भगवान् शंकरने भगवती उमाको अपने कई अनुभव सुनाये थे। यथा—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥

तथा—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥

कितने थोड़े शब्दोंमें भगवान् शिवने उस परम-सत्ताकी सत्यता, सर्वसमर्थता, संसारकी असत्यता और जीवकी असमर्थता तथा परवशताको स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः बात ऐसी ही है। वह अनोखा खिलाड़ी देव-दानव-यक्ष-किंनर-गन्धर्व-मनुष्य सभीको खेल खिला रहा है। वह सूत्रधार ऋषि-मुनि-ज्ञानी-मूढ़, राजा-रङ्क सबको नचा रहा है। सूर्य-चंद्र-पृथ्वी-नक्षत्र—सभी उसके इशारेपर नाच रहे हैं। ऋतुएँ उसीके इङ्गितसे ही थिरकती हैं और ऋतु-परिवर्तनके साथ-साथ वृक्ष-पौधे नये-नये पत्तों, फूलों और फलोंका शृङ्गार धारण करके उसीके संकेतपर उल्लाससे विहँसते हैं। उसे बड़े-बड़े देवता, मुनि भी नहीं समझ पाते।

जग पेखन तुम्ह देखन हारे। बिधि हरि संभु नचावन हारे॥
तेउ न जानेउ मर्म तुम्हारा। और तुम्हहि को जानन हारा॥

लघु पक्षी भला आकाशके विस्तारको क्या पायगा? छोटी-सी मछली अथाह सागरकी गहराई और अथाह जल-राशिके विस्तारको क्या समझेगी? वह तो उसी स्थानको ही वास्तविक समुद्र समझती है, जहाँ वह रहती है। ऐसे ही यह मानव-जीवन भी जहाँ ठहरा हुआ है, जहाँतक उसकी छोटी-सी दुनिया है, जिस किसी मनुष्यके जिस सीमित दायरेतक मन, बुद्धिकी जितनी पहुँच है, जो कुछ वह जानता है; उतने ही अल्प ज्ञानको वह पूर्ण ज्ञान समझ बैठा है। वस्तुतः यही उसकी भूल है। जहाँ वह अपने उस नचानेवाले (सूत्रधार)-को भूलकर अहंकार करके स्वयंको ज्ञानी, धनी, विद्वान्, बलवान् और सभी कर्मोंका कर्त्ता समझने लगता है, वहीं उसके दुःखोंका आरम्भ हो जाता है और फिर वह अहंकारसे वशीभूत हुआ, जल, थल-नभकी अनन्तानन्त योनियोंमें, अनेक स्वाँगोंमें उसे नाचना पड़ता है। अतः विचारणीय बात यह है कि हम उस अपने सूत्रधार (परमात्मा)के अनुकूल कैसे बनें? किस प्रकार उसकी मर्जीके अनुसार अपना सजीव अभिनय प्रस्तुत किया करें?

भगवान्की शरणमें रहनेवाले उनके प्रिय भक्त क्षमा और दयाकी चद्दर ओढ़कर सेवा और करुणाका चोला पहनकर, संयम और तपस्याकी माला डालकर, प्रेमका फेंटा बाँधकर, नवधाभक्तिके घुँघरू बाँधकर और त्यागका

तिलक लगाकर अपने आराध्यकी भक्ति-साधना तथा उपासना सम्पन्न करते हैं। श्रद्धा और विश्वासका अमृत पीकर, अखण्ड-आनन्द, शाश्वत-शान्ति और प्रभुकी नाम-खुमारीमें मस्त होकर, शास्त्रविहित साधनाके घुरोंपर नृत्य करते हुए उनकी आराधनामें तत्पर रहते हैं। कभी-कभी तो भक्त ही भगवान्‌को नचाते हैं। चैतन्य महाप्रभु जब प्रेममें विभोर हो नाचे तो उनके साथ मात्र समस्त बंगदेश ही नहीं; वन्य-पशु-पक्षीतक भी नाच उठे और साथ ही भगवान् जगन्नाथ भी नाचने लगे। भक्त नरसी मेहता जो नाचे तो 'साँवलशाह'को भी नाचना पड़ा। गुरुनानकने जब बाबरकी कैदमें बीणा बजायी तो हिन्दु-मुसलमान सभी मग्न हो उठे। भक्त रविदासने जब प्रेम-विभोर होकर आँसू बहाये तो उनके जूते गाँठनेवाली परातमें पतित-पावनी पुण्य सलिला माँ भागीरथी प्रकट हो गयीं। भक्त कबीरने नाचनेके लिये जब चद्दर ओढ़ी तो उसपर जरा-सा भी दाग नहीं लगा, उन्होंने वह चादर ज्यों-की-त्यों लौटा दी—

दास कबीरने ऐसी ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हीं चदरिया!

कबीरने इस नाचद्वारा अपने मालिक (सूत्रधार)को रिझा लिया।

वस्तुतः सच्चा नाच तो वही है, जब भक्त अपने-आपको भगवान्‌में पूरी तरह लीन कर दे। अपने अहंकारको, अपने अहं और खुदीको, अपनी इच्छाओंको जो पूरी तरह शून्य कर देता है और भगवान्‌के हर विधानको मङ्गलमय मानकर मात्र उसकी इच्छाके अनुसार ही नाचता है तो उस समय नाचनेवाले (साधक)को भी मजा आता है और नचानेवाले (सूत्राधार)को भी आनन्द मिलता है। बस, अपनी कोई इच्छा ही न रहने दे। अपने मालिक—सूत्रधार की ओर ही देखता रहे; उसीके संकेतपर अपने कर्तव्यानुसार नाट्य-अभिनय करता रहे।

कहा जाता है कि एक बार संत फरीदके गाँवमें भयंकर बाढ़ आ गयी। जलकी उत्ताल तरंगें नदीके किनारोंको तोड़कर गाँवके मकानोंको रौंदने लगीं। लोग भयभीत हुए संत फरीदके पास पहुँचे और फरियाद करने लगे—'बाबा फरीद! खुदाके साथ तेरा निकट सम्बन्ध है, सनम तेरे रुबरू है, तू पहुँचा हुआ फकीर है। यार तेरे कहनेपर चलता है, तू एक बार इबादत कर दे, तो वह हमपर रहमत कर देगा। तेरी इबादतमें जादू है, तेरी दुआमें असर है, खुदा तेरी जरूर मानेगा। तू किसी तरह बाढ़का रुख मोड़ दे; नहीं तो हम बरबाद हो जायँगे।'

फरीदने मुस्कराते हुए कहा—'वाह! जब मेरे यारको इस खेलमें मजा आता है तो मैं कौन होता हूँ रोकनेवाला?' लेकिन जब लोगोंने उसे बहुत मजबूर किया तो वह खड़ा हो गया। हाथमें कसी (कुदाल) ले ली और उससे उस बाँधको काटने लगा, जो लोगोंने बाँधा था। लोगोंने पूछा—'बाबा, यह क्या कर रहे हो, क्या गाँवको डुबाना चाहते हो? फरीदने कहा—जब मेरा यार यही चाहता है तो मैं भी उसीके काममें हाथ बँटा रहा हूँ। उसकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला रहा हूँ।' फिर क्या था? पानीका बहाव पीछेको जाने लगा, लोगोंको राहत मिली। तात्पर्य यह कि जब भक्त भगवान्‌के इशारे-पर नाचने लगा तो भगवान् भक्तके इशारेपर क्यों न नाचें? वे भी भक्तके अनुकूल बन जाते हैं, मात्र अपने भक्तकी प्रसन्नताके लिये। उस परमशक्तिको अपने अनुकूल बनानेके लिये आवश्यक है—सबसे पहले स्वयंको उसके प्रति सब प्रकारसे अनुकूल बनाया जाय। इसके लिये उसकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला देनेसे और उसके प्रति पूर्ण समर्पित हो जानेपर फिर सब ठीक हो जाता है! सबके सूत्रधार—परमात्माका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है।

न धनं गोधनात् परम्

(लेखक—वैद्यरत्न श्रीप्रद्युम्नाचार्यजी)

गो-धन विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। तपःपूत महर्षि एवं प्राचीन आचार्यगणों तथा श्रुति-स्मृति-पुराणादिकी भी यही मान्यता है। महर्षि बादरायणने कहा है—

'गवां रसात् परमं नास्ति किंचित्'

(महा० अनु०)

'गो-रस अर्थात् गोमाताके दुग्ध-दधि-घृत-गोमय आदिसे श्रेष्ठ पदार्थ विश्वमें नहीं हैं।'

गावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान्।
धारयन्ति प्रजाश्चेमा हविषा पयसा तथा॥

(महा० अनु०)

गोमाताके दुग्ध-दधि-घृत-गोमय-गोमूत्रसे ही नित्य-नैमित्तिक एवं विश्व-जनीन यज्ञादि कार्य सम्पन्न होते हैं और प्रजाका संरक्षण होता है। गाय अपने परम पवित्र घृत-दुग्धादि पदार्थोंसे मनुष्योंको हृष्ट-पुष्ट-तुष्ट करती है और गोमय-गोमूत्रसे सिंचित क्षेत्र (भूमि) में यथेष्ट अन्नोत्पादन-द्वारा सृष्टिका पालन करती है। महाभारतकारका कथन है—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥

(महा० अनु० ६९। ७)

'गो प्राणिमात्रकी माता है। वह सभी मनःकामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ है। अतः धन-धान्यकी अभिवृद्धिकी कामना करनेवालोंका यह कर्तव्य है कि वे गोमाताको सर्वकाल प्रसन्न रखें।' आचार्य स्पष्ट कहते हैं—

प्रचारे वा निवाते वा बुधो नोद्विजयेत गाः।
तृषिता ह्यभिवीक्षन्त्यो नरं हन्युः सबान्धवम्॥

(महा० अनु० ६९। ८)

'गौओंको हाँकते-जोतते पीड़ित नहीं करना। यदि वे भूखी-प्यासी होकर देखती है तो उत्पीडकके सम्पूर्ण वंशको नष्ट करती हैं। अब आप ही विचार कीजिये, उनकी दुर्दशा या हत्या करनेपर फिर राष्ट्रमें कितना अनर्थ होगा? यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि प्रसन्न गोमाता निश्चित कामधेनु है—

'न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्।' (रघुवंश, सर्ग २। ६३)

पितरोंके निवास-स्थान एवं देवी-देवताओंके मंदिर जिनके गोमयसे परिशुद्ध किये जाते हैं, उससे अधिक पवित्र एवं श्रेष्ठ पदार्थ और क्या हो सकता है—

पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च।
पूयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः॥

(महा० अनु० ६९। ११)

देशकी समृद्धि शासकोंके शासन-नीतिपर ही निर्भर है। शासक यदि शासन-नीतिका परिपालन करें तो क्या आश्चर्य कि भूमि कल्पनातीत अन्नदान करे?

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भू—
र्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्

(रघुवंश ५। ३२)

यदि गो-संरक्षण एवं संवर्धनका कार्य हो तो अन्नाभावके कारण परिवार-नियोजन आदि गर्भपात, जैसे राष्ट्र एवं धर्मविघातक कार्य करनेके प्रसङ्ग ही न प्राप्त हों। इस आपत्तिसे मुक्तिका प्रशस्त मार्ग गोधन—संरक्षण है। पर खेद और आश्चर्यका विषय है कि पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित भारतीय तथा भारतके कर्णधार गो-माताके संरक्षण-विषयमें अत्यन्त उदासीन हैं। जिस भारत देशमें गो-दुग्ध एवं गो-घृतकी नदियाँ बहती थीं, वहाँ आज नित्य व्यवहार्य योग्य गो-दुग्ध दुर्लभ हो गया है। यज्ञादि विश्वजनीन कार्योंके लिये यदि इसी प्रकार गो-दुग्ध दुर्लभ तथा अनुपलब्ध हो तो भारत देश शीघ्र अन्नाद्यभावके कारण आपन्मग्न होगा, यह निर्विवाद-विषय है।

प्राचीनकालमें यज्ञद्वारा देवताको प्रसन्न किया जाता था और यज्ञसे प्रसन्न होकर देवतागण प्राणिमात्रके संरक्षणार्थ यथेष्ट वृष्टिद्वारा भूलोकको सस्य-सम्पन्न करते थे। इस विषयकी सम्पुष्टि कविकुलगुरु कालिदासने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंशमें की है—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥
(रघु० सर्ग १। २६)

'दिलीप प्रजा-कल्याणार्थ गोका दोहन करते थे और दोहन-प्राप्त द्रव्यसे यज्ञ करते थे। यज्ञसे प्रसन्न इन्द्रदेव वृष्टि कर भूमिको सस्य-समृद्ध करते थे, जिसपर प्राणियोंका जीवन निर्भर है।' इस प्रकार भूमि एवं स्वर्गके शासकोंमें आदान-प्रदान होता था। जिससे भूलोक एवं स्वर्गकी व्यवस्था सुसूत्रितरूपेण सम्पन्न होती थी। गो-दुग्धके विषयमें वाग्भटने भी (सूत्रस्थानके अध्याय ५में) कहा है—

प्रायः पयोऽत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्।
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम्॥
श्रमभ्रममदालक्ष्मीः श्वासकासातितृट्क्षुधः।
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्॥

'गो-दुग्धमें जीवनीय सत्त्व होनेके कारण वह क्षयादि दुर्धर रोगोंको नष्ट करता है और आबाल-वृद्ध-सेवनीय है। माताके दुग्धाभावमें बालकोंको माताके दुग्ध-समान ही पोषक है, अतएव गौका सार्थक नाम माता है। यदि प्रातःकाल धारोष्ण गो-दुग्ध इक्कीस दिवसपर्यन्त सेवन करे तो क्षयरोग नष्ट हो सकता है। आचार्योंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि एवं बुद्धिसे संशोधन कर गोमूत्रके विषयमें कहा है—'कुष्ठरोग निहन्त्याशु गोमूत्रं नित्यसेवितम्।' (वाग्भटसू० १। ३७) देशनिदेव देहका कलङ्क—कुष्ठ विकार भी प्रतिदिन गोमूत्र सेवनसे नष्ट हो सकता है। उग्रात्युग्र सर्पविषका संशोधन भी गोमूत्रसे ही सम्पन्न किया जाता है। गायकी महत्तापर च्यवनवृत्त भी ध्येय है।

कहते हैं प्राचीनकालमें महर्षि च्यवनने बारह वर्ष-पर्यन्त जलावासकर तपश्चर्या करनेका निश्चय किया और गङ्गा-यमुनाके मध्यजलमें प्रविष्ट होकर विधिवत् समाधि लगायी। एक दिन मत्स्योपजीवी कैवर्त (मछुए) सुदृढ़ एवं नूतन जाल लेकर मत्स्योंको पकड़नेके उद्देश्यसे उसी स्थानपर आये और उन्हें जलमें डाल दिया। अल्पावकाशमें ही 'जालमें मत्स्य फँस गये हैं', यह भान होते ही कैवर्तोंने जालको जलके बाहर खींच लिया और महर्षि च्यवनको उसमें फँसा देखकर घोर आश्चर्यमें डूब गये। भयभीत मत्स्यजीवियोंने नतमस्तक होकर महर्षिसे प्रार्थना की—'भगवन्! अज्ञानसे ही यह अपराध हुआ है, आप उदार चेता अन्तः-करणसे हमें क्षमा-प्रदान कीजिये।'

महर्षिने कहा—'देखो, मेरी यह इच्छा है कि जिन जलचरोंके सहवासमें मैंने कई वर्ष व्यतीत किये हैं, उन्हींके साथ मेरा जीवन अथवा मरण हो। प्राचीन आचार्योंका भी यही सिद्धान्त है—

आत्मवत् सततं पश्येदपिकीटपिपीलिकाम्।

कृमि-कीट-पतङ्गोंको भी अपने-जैसा ही समझे और उनके सुख-दुःखका भी ध्यान रखा जाना चाहिये।

महर्षि च्यवनकी गम्भीर एवं निश्चयात्मिका वाणी सुनकर कैवर्तोंने इसकी सूचना राजा नहुषको दी। राजा नहुषने तुरंत अपने पुरोहितके साथ महर्षिके पास जाकर विधिवत् उनकी पूजा की। यह थी हमारे भारतकी भारत-गौरव-निदर्शक गाथा, जहाँके सम्राट्, राजेन्द्र भी तपोधन महर्षियोंका समादर करते थे। नतमस्तक सम्राट्ने महर्षिसे सविनय निवेदन किया—'भगवन्! मैं आपकी प्रसन्नताके लिये क्या सेवा करूँ?' करुणामूर्ति महर्षि च्यवनने कहा—

'ये मत्स्योपजीवी हैं। इन्होंने परिश्रम किया है। अतः इन्हें मेरा उचित मूल्य देकर मुझे इस जालसे मुक्त करो, इसीमें मेरी प्रसन्नता है'—

मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह।
(महा० अनु० ७१ । १७)

महर्षिका आदेश शिरोधार्य मानकर राजाने पुरोहितसे कहा कि इनको एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दे दो। मंदस्मित महर्षिने कहा क्या यही मेरा योग्य मूल्य है? तत्काल राजाने पुरोहितसे कहा—'दस हजार, लाख, दसलाख, कोटि-दस-कोटि, आधा राज्य, सम्पूर्ण राज्य दे दो परन्तु महर्षिको शीघ्र प्रसन्न करो।' महर्षिने कहा—'राजन्! महर्षिगणोंसे विचारणा करके मेरा योग्य मूल्य निर्धारित करो।' राजा नहुष चिंतित हुए। भौतिक वैभवका गर्व खण्डन हुआ।

अर्धं राज्यं समग्रं वा मूल्यं नार्हामि पार्थिव।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम्॥
(महा० अनु० ४१ । ११)

इसी बीच तपःस्वाधायनिरत गविजात नामक महर्षिने राजासे कहा—'राजन्! आप निश्चिन्त रहिये, मैं महर्षिको प्रसन्न करता हूँ।' यह अमृतप्राय वाणी सुनकर राजाने कहा—

परित्रायस्व मामस्माद्विषयं च कुलं च मे।
हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धो त्रैलोक्यमपि केवलम्॥
(महा० अनु० ७८ । १९)

'क्रुद्ध भगवान् महर्षि त्रैलोक्यको भी नष्ट करनेकी सामर्थ्य रखते हैं, अतः शीघ्र मुझे और मेरे कुल एवं राज्यको इस संकटसे मुक्ति प्रदान करें।'

महर्षि गविजातने कहा—'विश्वमें गौके समान कोई धन नहीं है। अतः गो-दान करके महर्षिको प्रसन्न एवं मुक्त किया जाय।' राजाने तत्काल विधिवत् गो-प्रदान करके महर्षिसे अञ्जलिबद्ध होकर कहा—'भगवन्! आप उठिये एवं जालको छोड़ दीजिये। गोदानसे मैंने आपको मुक्त किया है।' महर्षिने प्रसन्न एवं संतुष्ट होकर राजासे कहा—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत॥
(महा० अनु० ७२ । ३५)

'गौके समान अमूल्य धन विश्वमें नहीं है। तुमने मेरा उचित मूल्य निर्धारण किया है।' इस आख्यानसे गौ-महिमा और गौके महत्त्वकी प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। भारतीय जनता एवं भारतके कर्णधारोंके समक्ष नम्रतापूर्वक निवेदन है कि भारत-भारती संरक्षणक्षम विश्ववन्द्य मूल्य राष्ट्रधन एवं जगज्जननी गोमाताका सर्वतोपरि संरक्षण, संवर्धन एवं संगोपनका विधान बनाकर गौरवमयी भारतीय-संस्कृतिका परिचय देनेका विश्वजनीन कार्य किया जाना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिमें गोरक्षाका महत्त्व

प्राचीन भारतीयोंका जीवन बड़ा शान्त, पवित्र एवं परोपकारपूर्ण था। वैदिक-पौराणिक धर्मयुक्त संस्कारोंसे यहाँकी संस्कृति सदा प्रभावित रही है। उस समय और आज भी यज्ञ-दान तथा विवाहादि सभी नित्य-नैमित्तिक कार्य गो-सेवापर ही आधृत हैं। वेद-वेदान्त, पुराण और विविध मत-मतान्तरों और आर्य-परम्पराओंको पूरी तरह समझे बिना ही आज अधिकांश भारतीय दुःखमय जीवन जी रहे हैं। उनमें समग्र दृष्टिका अभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। फलस्वरूप गोके महत्त्वकी भी उपेक्षा की जा रही है।

संस्कृतमें गोका एक पर्याय 'अयक्ष्मा', और दूसरा 'अघ्न्या' है। खेद है कि भारतवर्षमें अभीतक गोवध-निषेध क्रियान्वित नहीं हो पाया है। आज गोवधके प्रश्नको मात्र हिंदू-संस्कृति और प्रदेशकी सीमाकी भूल-भूलैयामें उलझाकर अनिर्णीत रखनेका उपक्रम चल रहा है। किंतु भारतमें भारतीयता, संस्कृति, हिंदुत्व, मानवता, सत्य और अहिंसाका, गोरक्षा और गोवध-निषेध पूर्ण पर्याय हैं। वर्तमान सरकार जो संविधान-संशोधनमें भी सक्षम है, गोवधको केन्द्रीय विषय-सूचीमें सम्मिलित कर सकती है। उसे सारे भारतमें गोवध-निषेधाज्ञा प्रसारित करनेका साहस पूर्ण औदार्य दिखाकर सभी प्राचीनजन हीयों तथा समस्त आस्तिक, धर्मप्राण जनवर्गकी आकांक्षा पूरी करनी चाहिये। ईश्वर उसे शक्ति और साहस दें!

—श्रीरामकृपालजी द्विवेदी, साहित्यरत्न

तू ही माता, तू ही पिता है !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

प्रभुकी सृष्टि अत्यन्त सुन्दर है। वे तो सुन्दरताकी प्रतिमूर्ति ही हैं। इतना ही नहीं, सब नामोंमें, सब रूपोंमें भी वे ही बसते हैं। उनके नाम रूप सभी अनन्त हैं।

शङ्कालु कहता है—फिर भी हम क्यों आकृष्ट हों प्रभुकी ओर ? वेदके ऋषि कारण देते हैं—**'त्वमस्माकं तवास्मि।'** (ऋग्वेद ८। ९२। ३५)-'तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं।' स्वामी रामतीर्थने इसी भावमें विभोर होकर कहा था—'तारे क्या रोशनीसे न्यारे हैं! तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं !! कितना प्यारा, कितना मनोहर, कितना आकर्षक है, आत्मीयताका यह सम्बन्ध !' और जब यह स्थिति है तो हमें पूरी छूट है कि हम उनसे चाहे जो सम्बन्ध स्थापित कर लें। तुलसीदासजी भी तो भगवान् रामसे कहते हैं—'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।' उनके अभिलाषा मात्र इतनी है—'ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै।' वैदिक ऋषिकी अनुभूति है—**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥** (यजुर्वेद ३२। १०)

वह परमेश्वर हम सबका बन्धु है, भाई है। वह हम सबको जन्म देनेवाला है। वह जानता है, सारे धामोंको, सारे भुवनोंको। गीता कहती है—**'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।** (९। १८)

'अग्निमीडे'—अग्निकी प्रार्थनासे, ऋग्वेदका, श्रीगणेश हुआ है। इन्हीं अग्निरूप परमेश्वरसे ऋषिकी प्रार्थना है—**स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वा नः स्वस्तये।** (ऋग्वेद १। १। ९)

'अग्निदेव ! आप हमें पिताकी भाँति उत्तम ज्ञान प्रदान करें, जिससे हमें सारे सुखोंकी प्राप्ति हो और हमारा कल्याण हो।' पिता जहाँ पुत्रका प्रेमपूर्वक पालन-पोषण और रक्षण करता है, वहाँ वह रिक्थ (पैत्रिक सम्पत्ति)-के रूपमें अपने ज्ञानका भाण्डार भी पुत्रको दे डालता है। और जहाँ ज्ञान है, वहाँ सुख होगा ही, कल्याण होगा ही। उनकी यह भावना पग-पगपर मुखरित होती है—

> हम तेरे हैं तु ही हमारा सब से प्यारा एक तुही।
> ज्ञान प्रेम औ सुखसे पूरित करनेवाला एक तुही ॥

ऋषि परमेश्वरको पिता, भ्राता, मित्र और पुत्र-जैसे अत्यन्त निकटके सम्बोधनोंसे पुकारा है—

> **त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वा**
> **भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।**
> **त्वं पुत्रो भवसि यस्ते विधत्वं**
> **सखा सुवेशः पास्याधृषः ॥**
> (ऋग्वेद २। १। ९)

'हे अग्ने, तू हमारा पालक पिता है, दयालु भ्राता है, सुखदाता मित्र है और पुत्रकी भाँति हमारा त्राता है। इन नाना रूपोंमें तू अपने उपासकोंको लाभ पहुँचाता है।'

> पिता रूपमें तू ही पालक, सखा रूपमें सुहृद तुही।
> पुत्र रूपमें त्राता है तू, दयाशील भ्राता तू ही ॥

वेदका एक और वचन है—

> **अग्निमन्ये पितरमग्निमापि-**
> **मग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम् ॥**
> (ऋ० १०। ७। ३)

'अग्निरूप परमेश्वरको ही मैं सदा अपना पिता, अग्रणी, सखा, भ्राता और मित्र मानता हूँ।' प्रभु हमारे पिता हैं, पितामह हैं, अन्तरात्मा हैं। वे ही हमारे त्राता हैं, सुखदाता हैं। हम इस तथ्यको समझ लें तो हमारा कल्याण ही कल्याण है। ऋषिके अन्तस्‌से निकली यह ऋचा हमारी मार्गद्रष्टी है—

त्राता नो बोधि ददृशान आपि-
रभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां
कर्तेमुलोकमुशते वयोधाः ॥
(ऋ० ४। १७। १७)

'परमात्मा हमारे त्राता हैं, रक्षक हैं। हम जो कुछ करते हैं, वह सब परमात्मा देखते हैं। वे सर्वव्यापी हैं। वे हमारे अन्तरात्मा हैं। वे हमारे मित्र हैं, पिता हैं, पितामह हैं। वे ही कर्ता हैं, वे ही जीवनदाता, जगदीश्वर हैं। हम इस तथ्यको जानें और समझें।' ऋषियोंकी आत्मिक प्रयोगशालामें ऐसे अनेक मन्त्र भरे पड़े हैं। वे शतक्रतुरूपी परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे। (ऋ० ८। ९८। ११)

'शतक्रतो! अनन्तसामर्थ्यवान् प्रभो! तू ही हमारा पिता है, तू ही हमारी माता, तू ही हमें ठौर-ठिकाना देनेवाला है। तू हमें सुख प्रदान कर।'

मित्रो न सत्य उरुगाय ॥ (ऋ० १०। २९। ४)

हे प्रभु! तू हमारे सच्चे मित्रकी भाँति है; अर्थात्—

तू ही माता तुही पिता है, बन्धु सखा है प्रभो तुही।
जितने नाते हैं इस जगमें, सब नातोंमें बसा तुही ॥
कृपा माँगते हैं हम तेरी, तू सबका कल्याण करे।
तुझसे बढ़कर हितू कौन है? स्नेही प्यारा एक तुही ॥

इन्द्ररूप भगवान्‌से भी ऋषि प्रार्थना करते हैं—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥
(ऋग्वेद ८। ६६। १३)

'इन्द्रदेव! हम आपके उपासक ही हैं। हम आपकी ही पुत्र हैं। आपकी ही कृपाके पात्र हैं, आपपर ही निर्भर रहकर हम अपना जीवन बिताते हैं। हे पूज्य, हे मघवन्! आपसे बढ़कर सुखदाता और कोई नहीं है।'

तू ही सखा मित्र हमारा, सुखदाता है एक तुही।
किसे पुकारें हम संकटमें? माता त्राता एक तुही ॥

मातासे बढ़कर प्यारा कौन होता है? हम बिना किसी संकोचके उससे सब कुछ माँग लेते हैं। उसे हमारी सारी सुख-सुविधाओं, सारी आवश्यकताओंका ध्यान रहता है। नाना कष्ट उठाकर माँ हमें भरपूर सुख पहुँचाती है। और पिता! हमारे लिये पिताके कष्ट-सहनका, उनके त्यागका कोई पार है? प्रभु हमारा पिता भी है, माता भी। उसकी अपरम्पार कृपा है हमपर। क्या नहीं देता वह हमें?

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यन्निःश्रोणो भूत् ॥ (ऋग्वेद ८। ७९। २)

'परमेश्वर नंगेको वस्त्रसे ढँकते हैं। रोगीको वह चंगा करते हैं। अन्धेको वे दृष्टि देते हैं, जिससे वह भलीभाँति देखने लगता है। लँगड़ा व्यक्ति उसकी कृपासे चलने लगता है।' धन्य हैं वे दयालु प्रभु—

अन्धेको तू दृष्टी देता लँगड़ेको चलनेकी शक्ति।
रोगीको चंगा करता है, धन्वन्तरि है एक तुही ॥

ऐसे सर्वसमर्थ प्रभुसे बढ़कर हमारा हितू और कौन हो सकता है? अपने प्रेमसे हमें सदैव सराबोर रखनेवाले, हमारे सभी अभावोंकी पूर्ति करनेवाले परमेश्वर हमारे सबके जन्मदाता, पालक और पोषक हैं। हम इस तथ्यको हृदयंगम करें तो हमारे मानसमें मानवमात्रके प्रति सहज ही भ्रातृ-भावकी भावना भर उठेगी। ऋषि-वचन है—

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या।
मातुर्गर्भे भरामहे ॥ (ऋग्० ८। ८३। ८)

'माताके गर्भसे ही हमें परस्पर भाई-चारेका, भ्रातृत्वका वरदान मिला है। एक-दूसरेके साथ मिलकर रहने और मिल-बाँटकर खाने-पीनेका भाव हमें अपने जन्मकालसे ही प्राप्त हुआ है।' मानवमात्रके प्रति भ्रातृत्वका हमारा यह गुण, यह पारस्परिक प्रेम सतत बढ़ता रहे, यही हमारी प्रभुसे प्रार्थना है—

हम सब तेरे बेटे हैं प्रभु, मिल जुल कर हम रहें सदा।
जन्मजात यह प्रेम परस्पर सदा बढ़ाता रहे तू ही ॥

तुलसीके माया-चिन्तनकी मानवीय भूमिका

(लेखक—डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०; पी-एच्० डी०)

गोस्वामीजीने मानसमें कई स्थलोंपर मायाके प्रभावका वर्णन किया है। यह समस्त सृष्टिकी रचना और संहार करनेवाली है[1]। अखिल विश्व, चराचर जीव, ब्रह्मादि, देवासुर रामकी मायाके वशवर्त्ती हैं।[2] किंतु मायाका यह प्रभाव भी वह रामके कारण ही है। वैसे माया निर्बल है—वह ब्रह्माण्डकी रचना रामके बलपर करती है।[3] माया जड़ है। रामका आश्रय पाकर ही वह सत्यरूपमें भासती है।[4] वस्तुतः माया रामकी चेरी है,[5] वह रामके संकेतपर नाचती है और उनसे भयभीत रहती है।[6] सामान्य मायाके ये लक्षण शास्त्रानुमोदित हैं। तुलसीने मायाके स्वरूपपर प्रकाश डालते हुए कतिपय मानवीय दुर्बलताओंकी ओर भी इङ्गित किया है और उन्हें भी मायाके नामसे अभिहित किया है। उदाहरणार्थ देखिये—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥[7]

यह स्वार्थका विस्तार अखिल विश्व—सब माया है। 'मैं-मेरा' 'तू-तेरा'की भावना मनुष्यमें अत्यधिक है। इससे सच्ची आत्मीयता और सौहार्दभावना नहीं रह जाती है। इसने मानव-मानवके बीच वैषम्य उत्पन्न कर दिया है। वैषम्य द्वैत-संभूत है और जहाँतक द्वैतका प्रसार है, वहाँतक मायाका साम्राज्य है। द्वैतोत्पन्न विषमतासे मानवताका दैनंदिन ह्रास हो रहा है। कटुता माया-प्रसूत विकार है। इससे मानवता जर्जरित एवं म्रियमाण हो गयी है। मायाकी इस घातक स्थितिका चित्रण करते हुए मानसकारका संदेश है—'मायाके चंगुलसे छुटकारा पानेपर ही मानवता खुशहाल रह सकती है। मायासे मुक्त होनेके पश्चात् ही समष्टिपरक आत्मीयता, समता तथा एकताका प्रसार हो सकता है।

अध्यात्म शास्त्रोंके अनुसार मायाके दो रूप हैं—(१) विद्या माया और (२) अविद्या माया।[8] तुलसीने जिस मायाके अनिष्टकर कार्यकलापोंका विवरण दिया है, वह अविद्या है। अविद्या माया जीवोंके मोह तथा बन्धनका कारण है। वह दुष्ट एवं अतिशय दुखदायिनी है—जीव उसके वशमें विश्वकूपमें डूबा हुआ है।[9] प्रवृत्ति-मार्गवाले उस अविद्याके वशीभूत होते हैं।[10] उसकी प्रभविष्णुतासे आत्मरक्षण तभी सम्भव होगा, जब भक्तिका अवलम्ब लिया जाय। काकभुशुण्डि राम-भक्तिके फलस्वरूप ही कह सके थे—'सो माया न दुखद मोहि काही।'[11] वस्तुतः माया तथा भक्ति दोनों रामकी दासियाँ हैं। दोनोंकी गणना नारी-वर्गमें की जाती है।[12] रामके हृदयमें मायाकी अपेक्षा भक्तिके प्रति अधिक खिंचाव है।[13] इसीलिये माया भक्तोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। भक्ति मायाके पंजोंको कुण्ठित कर भक्तोंमें पवित्र मानवताका उदय कराती है। यद्यपि माया-मर्दन और भक्ति-प्राप्तिको कविने कृपा-साध्य माना है[14], किंतु रामकी प्राप्तिको उन्होंने प्रेमपर अवलम्बित कर दिया है।[15]

१—मानस ५। २१। ४, २—मानस १। २००। ४ एवं बालकाण्डका प्रथम श्लोक, ३—मानस ३। १५। ६, ५। २१। ४, ४—मानस १। ११७। ८, ५—मानस १। ११७, ६—मानस ७। ७१, १। ११७। ७, ७—मानस ३। १५। २, ३। ८—मानस ३। १५। ४, ९—मानस ३। १५। २, १०—'तुलसीदास' पृष्ठ ४११, ११—मानस ७। ७८ क। २, १२—मानस ७। ११६। ३, १३—मानस ७। ११६। ५ १४—मानस ४। २१। ६, १५—मानस २। १३७। १।

मायासे मुक्ति पानेके लिये दूसरा विकल्प ज्ञानार्जन है; अर्थात् जीव ब्रह्मकी अद्वैतताका परिज्ञान ही भ्रम और तज्जन्य संसृतिका नाश कर सकता है।[१६] माया एक आवरण है, जो ज्ञानको आवृत किये रहती है। यद्यपि ज्ञान मायावी आवरणको विदीर्ण कर मानवको सर्वात्मवाद एवं समतावादकी अनुभूति कराता है, और उसमें मानवतावादी दृष्टिकोणको उदित कराता है, तथापि भक्ति जितनी सुलभ है, उतना ज्ञान नहीं।[१७] फलतः कवि भक्तिके अधिक कायल हैं।

विकार-विसर्जन भी मायावी प्रभावसे मुक्ति पानेका एक अच्छा विकल्प है। जीव यदि अपने विकारोंका परित्याग कर सके तो द्वैतजनित संसृति और उसके दुःखोंका संहार भी हो सकता है।[१८] विकारोंका समवेत-रूप ही माया है—विकारोंके परित्यागसे मायाका स्वयमेव नाश हो जाता है। विकारग्रस्त हृदयमें ही माया अपना प्रभाव जमाती है। विकारोंको मायाका परिवार कहा जा सकता है।

मायावी परिवार प्रचण्ड एवं आक्रामक है। संसारवासी मायाके वशीभूत होकर आकण्ठ भ्रष्टाचारमें डूबे हुए हैं। मोह मानव-जातिको अंधा बना देता है। कामुकताके संकेतपर सारा संसार नाचता है। तृष्णा जगत्‌को उन्मत्त कर देती है और क्रोधसे वह जर्जरित हो जाता है। लोभकी विडम्बना सबपर हावी हो जाती है; चाहे कोई तापस, शूर, कवि, कोविद और गुणागार ही क्यों न हो? लक्ष्मीका मद सबको टेढ़ा बना देता है और प्रभुता उन्हें बधिर कर देती है। मृगनयनीके नेत्रबाणसे कौन आहत नहीं होता? रजस्तमोगुणादिके संनिपातरूपी अहंकार और मादकतासे सब प्रभावित होते हैं। यौवनका ज्वर सबको अमर्यादित कर देता है। ममता सबके लिये कीर्तिनाशिनी है। मत्सर सबको कलङ्कित कर देता है तथा शोक-समीरसे सभी विचलित हो जाते हैं। चिन्तारूपी साँपिनके दंशसे कोई अछूता नहीं रहता। जिस प्रकार लकड़ीको कीट पोली कर देता है, उसी प्रकार कामना मानव-जातिको नष्ट कर देती है। पुत्र, धन और लोक-प्रतिष्ठाकी एषणाएँ (इच्छायें) बुद्धिको कुत्सित कर देती हैं। काम-क्रोध और लोभ विश्वव्यापिनी मायाके सेनापति हैं तथा दम्भ, कपट और पाखण्ड उसके योद्धा हैं। मानव तो मानव, शंकर, विधि भी इससे भयभीत रहते हैं। 'मानस'का माया विषयक यह वर्णन अविकल रूपसे अवलोकनीय है—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

ग्यानी तापस सूर कबि, कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि॥

जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥

× × × ×

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥[१९]

अविद्या मायाका जो परिवार है, वह वस्तुतः मानवताका विध्वंसक है। उसीसे समाजमें इतने दुर्गुण फैले हुए हैं कि मानवता उनके कारण मरणासन्न हो गयी है। मोह, काम, तृष्णा, क्रोध-लोभ, मद-मान, वासना, तारुण्य-जन्य स्वेच्छाचारिता, आसक्ति, डाह, शोक, चिन्ता, एषणा-प्रभृति ऐसे दुर्गुण हैं, जिनसे सारा संसार प्रभावित है। पर गोस्वामीजी मायासे बचकर

१६—मानस ७। ११८। २, १७—मानस ७। ११९ क। १०, ७। ११९ क। १, १८—विनयपत्रिका १२४
१९—रामचरितमानस—उत्तरकाण्ड दो० ७० से ७१।

सामाजिक जीवनको श्रेष्ठ बनानेके लिये संदेश देते हैं और इसके लिये भक्तिपर अवलम्बित रहनेके लिये कहते हैं। विश्वमें मानवताका प्रसार तभी होगा जब मानव इन कल्मषताओं (बुराइयों)का निराकरण करनेके लिये भक्तिका वर्चस्व (तेज या शक्ति) स्वीकार करे। भक्ति मानवताके उच्च आदर्शोंकी साधना है, जो मायाके प्रभावको समाप्त कर सकती है। इस भक्तिको निरा अन्धविश्वास कहना उसके प्रति अन्याय होगा। मानसकी उद्घोषित भक्तिमें विरति और विवेकका समावेश है। 'विरति-विवेकयुक्त भक्ति ही मायाके प्रभावको काट सकती है।' आदर्शके प्रति लगाव, बुराईसे विरति और दोनोंके बीच विवेक—यह तुलसीका आदर्श है।[२०]

निष्कर्ष यह कि तुलसी संसारको छोड़कर संन्यास लेनेपर बल नहीं देते। वे तो मानवीय दुर्बलताओं एवं कमजोरियोंसे मुक्त होनेका संदेश देते हैं और उसके लिये ऐसी विरति विवेकमयी भक्तिपर निर्भर होनेकी बात कहते हैं, जो अपने भक्तको किसी तीसरी दुनियाकी ओर न ले जाकर इसी दुनियातक सीमित रखती है।

यह कहा जा चुका है कि आसुरी वृत्तियोंका समवेतरूप ही माया है, जो मानवको दानवता या पशुताकी ओर ले जाती है। मानवताकी महिमा और भव्यताको स्पष्ट करनेके लिये कविवर्णित माया विपर्ययका काम देती है। जिस प्रकार अतिशय आतपसे सन्तप्त व्यक्ति तरुच्छायाका सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है[२१], जिस प्रकार मोहजन्य अशान्तिकी स्थितिके उपरान्त सच्ची शान्तिकी अनुभूति होती है, ठीक उसी प्रकार क्लेशित भक्तको अविद्या-माया मानवताकी उच्चभूमिपर अवस्थित करती है। अविद्या-मायासे जर्जरित भक्तका बस यही संकल्प रहता है कि अबतक मेरे जीवनका जो नाश हुआ, सो हुआ, अब उसे नष्ट नहीं होने दूँगा[२२]। रामभक्तिके सहारे वह चित्त-परिमार्जनका, जितेन्द्रिय होनेका निश्चय करता है।[२३] सद्गुणोंको आत्मसात् करनेके प्रति भक्तकी यह प्रतिबद्धता उसके उत्कृष्ट एवं पूत मानवतानुरागकी पृष्ठभूमि बन जाती है।

जिस प्रकार अनेक व्याधियोंसे शरीरको यातना मिलती है, उसी प्रकार मानसरोगोंसे मनुष्यका अन्तःकरण कलुषित हो जाता है और वह मानवताके पथसे विचलित हो जाता है। तुलसीने 'मानस-रोग'प्रकरणमें उन मानवीय कमजोरियोंकी पुनरावृत्ति की है, जिनकी तालिका उन्होंने अविद्या-मायाके परिवारमें प्रस्तुत की है।

मोह दानवताका प्रवर्तक है। काम, लोभ, क्रोध इन तीनोंके मिलापसे दानवताकी और अधिक वृद्धि होती है। मनोरथ, ममता, ईर्ष्या, आसक्ति, जलन, दुष्टता, कुटिलता, अहंकार, दम्भ, कपट, मद, मान, एषणा, मत्सर, अविवेक आदि विकारोंसे मानस कलुषित हो जाता है।[२४] इनसे नैतिक शक्तिका ह्रास होता है और मानवता शिथिल हो जाती है। इन दानवीय वृत्तियोंके निराकरण और शोधनके लिये भक्ति अपरिहार्य (अटल) साधन है[२५], पर उसमें गुरु-शिक्षाके प्रति विश्वास और विषयोंके प्रति अनासक्तिका संयम होना चाहिये[२६]। साथ ही श्रद्धा रूपी अनुपानकी भी आवश्यकता होती है[२७]। विरतिकी वृद्धि मानसिक नीरोगताका लक्षण है[२८]। भक्ति एक ओर व्यक्तिको बुराइयोंसे बचाती है

२०—'तुलसीदास—आजके संदर्भमें' पृष्ठ—१२३। २१—मानस ७। ६९ क। ३, २२—अब लौं नसानी, अब न नसैहौं। वि० प० १०५ २३—स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं। परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हसैहौं॥ (वि० प० १०५)

२४—मानस—मानस-रोग-प्रकरण। (उत्तरकाण्ड)। २५—मानस ७। १२२ क। ७, २६—मानस ७। १२२ क। ६, २७—मानस ७। १२२ क। ७, २८—मानस ७। १२२ क। ९।

तथा दूसरी ओर आचरणकी अपवित्रताको दूर कर चारुता प्रदान करती है। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदासने मायाके चिन्तनमें मानवताकी इसी भूमिका संकेत बड़े मनोयोगसे किया है। इस प्रकार श्रद्धा-विवेक-विरति मूलक भक्तिको सम्बल बनानेसे ही दानवताका विनाश और मानवताकी सृष्टि संभाव्य है।

मुक्ति और बन्धन

(लेखक—श्रीहरिवल्लभलालजी, साहित्यालंकार)

जगत्में भगवान्को छोड़ सुखकी आशा और अन्वेषणमें संलग्न जीव अन्ततक दुखी ही रहता है। जगत्में जीवकी अभिव्यक्ति जन्मके साथ होती है तथा उसे आत्मप्रसार और आत्मज्ञानके लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि साधन मिलते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रियाँ और मनका सक्रिय उपयोग होता है तथा मन इन्द्रियोंके द्वारा ही कार्य-सम्पादन करता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं और बाहर जगत्में समृद्धिका मायिक जाल बिछा हुआ है। बहिर्मुखताके कारण इन्द्रियाँ विषयोंसे आकृष्ट होकर उनकी ओर दौड़ लगातीं तथा जगज्जालमें फँस जाती हैं। फँस जानेपर पुनः जगतसे बाहर निकलना कठिन हो जाता है। इस प्रकार उसे जगत्के अत्यधिक दुःखप्रद बंधनमें जकड़ जाना पड़ता है। जीवको इस बंधनसे छुड़ानेके लिये ही मुक्तिका विधान है। अपनी मूर्खता तथा अदूरदर्शिताके कारण जीव बंधनमें बँधता है। तत्त्वदर्शी मनीषी भक्तप्रवर गोस्वामीतुलसीदासजीने जीवकी इस मूर्खताकी मकटको फंदामें फँसनेकी प्रक्रियाके साथ तुलना की है—

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

कीर और मर्कटके फंदेमें फँसनेकी प्रक्रिया बड़ी आश्चर्यकर है। लोहेके पिंजरेमें लाल आकर्षक फल या जालमें लकड़ी डालकर तोतेको वझा लिया जाता है। बन्दरके लिये छोटे मुँहवाले घड़ेमें 'मुहीं' अथवा अन्य स्वादिष्ट अन्न रख दिया जाता है।

बन्दर घड़ेके स्वादिष्ट भोजनपर आकृष्ट होकर अपना हाथ डालता है। अन्न लेकर मुट्ठी बाँधता है तथा मुट्ठी घड़ासे बाहर निकालना चाहता है। घड़ेके छोटे मुँहसे बँधी हुई मुट्ठी निकल नहीं पाती है और वह छटपटाता रहता है। वह समझता है कि घड़ेने उसे पकड़ लिया है जो उसका नितान्त भ्रम है। जीव और जगत्का बंधन भी इसी प्रकार मायात्मक और मिथ्या है। वस्तुतः वह जगत्के साथ बँधा हुआ नहीं है। भ्रम ही दुःख-का कारण है।

ईश्वरांश होनेके कारण ईश्वर और जीवमें सजातीय सम्बन्ध है और सजातीय सम्बन्धके कारण ईश्वर और जीवका सङ्ग सुखकर है। जीव यदि जागतिक-विजातीय सम्बन्धका विच्छेद कर ईश्वरमें आत्म-विलय कर ले तो वह दुःखसे निवृत्त होकर चिर-सुखमें लीन हो सकता है। जागतिक सम्बन्ध-विच्छेद बन्धन टूटना है और ईश्वरमें आत्मविलय चिरानन्द मुक्तावस्था, जिसके लिये जीव सतत् प्रयत्नशील है।

आप्त मनीषियों और विद्वानोंने मृत्युलोक और कर्मको बन्धन कहा है—**'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** कर्म और फल परस्पर अनुस्यूत हैं—**'सिद्धिर्भवति कर्मजा।'** जीव जबतक कर्मरत रहेगा, फल-भोग हेतु-जगत्में उसे जन्म लेना ही पड़ेगा। कर्मका कारण इच्छा है। फिर फल-भोग, संस्कार और पुनः कर्मके रूपमें इनका क्रमानुसार आवर्तन होता रहता है तथा संस्कार इच्छाको प्रभावित करता रहता है। इच्छा संस्कारके अनुरूप ही

उत्पन्न होती है और यही संस्कार पुनर्जन्मका भी हेतु है। इच्छा उपभोगकी होती है तथा वस्तु-जगत्‌का उपभोग जीवके आकर्षणका केन्द्र-विन्दु बन जाता है।

प्रारब्धसे प्रभावित होनेके कारण कर्मफल सदा अनुकूल ही नहीं, अपितु प्रतिकूल भी होता है। प्रतिकूल कर्मफल तो जीवके लिये दुःखदायी है ही, अनुकूल कर्मफल भी उसे स्थायी सुख प्रदान नहीं कर पाते। इस क्षणभङ्गुर भौतिक जगतके उपभोगमें स्थायी सुखकी खोज व्यर्थ है।

पर मुक्तावस्थामें जीव ब्रह्माकार होकर ब्रह्म हो जाता है, फिर उसके लिये कर्म कैसा ? इस पूर्व चाहे कर्मसंन्यासी हों या कर्मयोगी, सभीके लिये कर्म आवश्यक प्रतीत होता है। शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध, दो प्रकारके कर्म होते हैं। निषिद्ध कर्मोंका त्याग सभीके लिये आवश्यक है, पर योगारूढके लिये कर्ममात्र हेय हैं—'शमः कारणमुच्यते।' सामान्य दशामें योगी जीव-धर्मका निर्वाह अवश्य ही करेंगे। मुक्तिके लिये जीव प्रयत्न करता है और ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और साधनकी तीव्रतासे उपासना, ज्ञान-समाधि आदिके द्वारा उसे पूर्ण शान्ति या मुक्ति मिल जाती है।

महाभारतमें आध्यात्मिक स्वराज्यकी परिकल्पना

(लेखक—डॉ० श्रीसत्यपालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें एक ज्ञान-सम्पन्न तपस्वी ब्राह्मण और उसकी जिज्ञासु पत्नीके बीच एक लम्बा संवाद आता है। महाभारतकारने इसे 'ब्राह्मणगीता' नाम दिया है। इसमें कुल छः श्लोक हैं, परंतु भारतके इतिहासका यह पुरातन प्रसङ्ग जनसाधारण और विशेषतः वर्तमान युगके शासकोंको अच्छा दिशा-बोध करा सकता है। महर्षि वेदव्यास राजधर्मको भी एक बड़ा धर्म मानते हैं। महाभारत-लोककल्याणके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साध्यकीसिद्धिमें लगे शासकोंमें लोकपालोंके अंश और दैवी प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा करनेवाले महाभारत कार शासनतन्त्रसे सम्बद्ध व्यक्तियोंकी चरित्र-शुद्धिके लिये उनके सामने कुछ आदर्श प्रस्तुत करना चाहते हैं। 'यथा राजा यथा प्रजा' वाली कहावतके अनुसार शासकोंके आचार, विचार, निष्ठा, व्यवहार और कार्यप्रणालीका प्रजाके चरित्रपर प्रभाव पड़ता है। शासकोंका चरित्र-दोष समाजके ढाँचेको ध्वस्त कर देता है। इनकी चारित्रिक विच्युतियाँ (दोष) तथा इनसे उत्पन्न प्रमाद अर्थतन्त्रपर प्रभाव डालता है और इससे प्रजामें असंतोष और विक्षोभका जन्म होता है जिससे विरोध, वैमनस्य, संदेह और भ्रान्ति तथा आरोप-प्रत्यारोप बढ़ते हैं तथा समाजमें उच्छृङ्खलता और विद्रोहके बीज अङ्कुरित होने लगते हैं। फलतः राष्ट्र महार्घता, दरिद्रता और दैन्यका ग्रास बन जाता है।

राजधर्म अथवा राजनीतिका मुख्य उद्देश्य जनता-का योग क्षेम और मानवताका अभ्युदय होता है। अराजकता और अव्यवस्थासे पीड़ित प्रजाने अपनी कुछ वैयक्तिक स्वाधीनताओं और निजी अधिकारोंका स्वेच्छासे विसर्जन (त्याग) करते हुए शासनतन्त्र या राज्यको जन्म दिया है। महाभारतके राजधर्मानुशासन-पर्वमें इस विषयपर बड़े विस्तारसे चर्चा हुई है। यहाँ शासकोंके दायित्व बोधको प्रजाके भौतिक तथा आत्मिक उत्थानमें सर्वाधिक सहायक माना गया है। राजा अम्बरीषद्वारा गायी गयी आध्यात्मिक स्वराज्य-विषयक गाथाकी प्रस्तावनामें दिये गये एक श्लोकमें ही इसका निचोड़ प्रस्तुत कर दिया गया है। भगवान् व्यास कहते हैं—

समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः॥

'जब समाजमें विकृतियाँ बढ़ने लगीं और साधुपुरुषोंके कामोंमें विघ्न पड़ने लगा तो राजा अम्बरीषने राज्यकी बागडोर बलपूर्वक अपने हाथमें ले ली।' यहाँ स्पष्टतः बृहत्तर जनसमाज और कुछ शक्तिशाली, गुणवान् तथा विवेकशील महापुरुषोंके बीच हुए किसी समझौतेकी ओर संकेत किया। यूरोपके विख्यात राजनयविदों—लॉक, हाब्स तथा मैकियावेलीने—अपने ग्रन्थोंमें इस समझौतेकी बड़े विस्तारसे चर्चा की है। यह समझौता प्रजाके कुछ प्रकृतिप्रदत्त अधिकार शासकको हस्तान्तरित करता है और शासक उसके बदलेमें उसे वे सब प्रकारके संरक्षण प्रदान करता है जिनके अभावमें कोई भी समाज अपना सर्वाङ्गपूर्ण विकास नहीं कर सकता। महाभारतके सभा-पर्वमें युधिष्ठिरको सर्वजित् राजसूय यज्ञ करनेकी प्रेरणा देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्राचीन इतिहासोंके प्रामाण्यसे कहा है कि अव्यवस्था दूरकर व्यवस्था स्थापित करनेके लिये ही शासक राज्यसत्ता हस्तगत करते हैं। वे कहते हैं कि क्षत्रियोंने सामूहिक रूपसे यह नियम बना लिया है कि उनमेंसे जो भी क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा। श्रीकृष्णद्वारा कहे गये ये शब्द यह व्यञ्जित करते हैं कि दैवी सामर्थ्यसे सम्पन्न व्यक्ति शासनतन्त्रमें सर्वोच्च पद पानेका अधिकारी है।

जब राजा अम्बरीषने जब समाजमें अराजकता और विप्लव देखा और जनकल्याणके कार्योंमें पड़नेवाले व्याघातका उन्हें आभास हुआ तो उन्होंने लोकरक्षाके उद्देश्यसे सत्ताकी बागडोर अपने हाथमें ले ली। परंतु सत्ता हस्तगत करनेसे पहले उन्होंने आत्मविश्लेषण किया और यह जाननेका प्रयास किया कि वे शासन करनेके योग्य हैं या नहीं। उन्हें अपनेमें कुछ कमियाँ दिखायी दीं जिन्हें वे दूर करनेमें लग गये। उनके विषयमें व्यासदेवका कथन है कि—

स निगृह्यात्मनो दोषान् साधून् समभिपूज्य च।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह॥

'राज्य हस्तगत करते समय राजा अम्बरीषने अपने दोषोंका निग्रह किया और उत्तम गुणोंका आह्वान किया। अपने आत्मशुद्धिरूपी इस कर्मसे उन्हें अपने इष्ट कार्योंमें महान् सिद्धि प्राप्त हुई।' ब्राह्मण गीतामें कहा गया है कि सत्त्व, रजस् और तमस् नामवाले तीन प्राकृत गुण ही मनुष्यके शत्रु हैं। इन्हींके संघातसे भौतिक सृष्टि या सांसारिक प्रपञ्चका उद्भव होता है। वृत्तियोंके भेदसे ये शत्रु नौ बन जाते हैं। प्रत्येक गुणके साथ उसकी तीन-तीन वृत्तियाँ जुड़ी हैं। सत्त्वकी वृत्तियाँ हैं—हर्ष, प्रीति और आनन्द। रजस्की वृत्तियाँ हैं—तृष्णा, क्रोध और अभिसंरम्भ (द्वेष) तथा तामसकी वृत्तियाँ हैं—श्रम, तन्द्रा और मोह। ये नौ वृत्तियाँ ही संसारी जीवोंमें दोषोंका रूप धारण कर लेती हैं। यही प्रवृत्तियाँ, शासकोंको जनकल्याण और लोकमङ्गलके कार्योंसे विमुख कर उन्हें वैयक्तिक सुख और ऐश्वर्यमें प्रवृत्त कर देती हैं। इसीलिये कहा गया है कि राजा अम्बरीषने सर्वप्रथम अपने दोषोंका दमन करके चित्तशुद्धि की और अन्तमें एक महान् शासक बन सके।

शासक बनकर निश्चिन्त होकर बैठ जाना कोई बुद्धिमत्ताकी बात नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका वचन है कि 'बार-बार वशमें किया गया मन भी मनुष्यको कभी विचलित कर सकता है।' इन्द्रियोंके बेलगाम घोड़े मनको विपथगामी बना सकते हैं। इन्द्रियजन्य लोलुपताको समाप्त करनेके लिये हमें युद्धस्तर-पर प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। दुष्प्रवृत्तियोंको दबाये रखनेके लिये दैवी प्रवृत्तियोंको संनद्ध रखना होता है।

राजा अम्बरीष सबसे पहले बाह्य शत्रुओंका नाश करना चाहते हैं। किंतु जब वे आत्मनिरीक्षण करते हैं, तब आत्मग्लानिके साथ कहते हैं—

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया॥

'मैंने बहुत-सी बुराइयोंपर विजय प्राप्त की और सब शत्रुओंका नाश कर डाला, किंतु एक सबसे बड़ा दोष रह गया है। यद्यपि वह तुरंत नष्ट कर देने योग्य है तो भी मैं अबतक इसका नाश नहीं कर सका।'

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृत्य सुखमेधते॥

'उस दोषसे प्रेरित होकर मनुष्य यहाँ नहीं करनेयोग्य कर्म भी करता है। वह दोष है—लोभ। इसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर मनुष्य सुखी हो जाता है।' इस दोषका नाश होनेपर ही आत्मराज्यपर अधिकार होता है—

तस्मादिदं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्यात्मनि राज्यमिच्छेत्।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत्॥

'इस लोभके स्वरूपको भलीभाँति समझकर इसे धैर्यपूर्वक दबाने और आत्मराज्यपर अधिकार प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये। वास्तवमें सच्चा राज्य तो यही है। जिसे आत्माका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वही वास्तवमें राजा है।'

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते।
स लिप्यमानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान्॥
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान्।

'लोभसे तृष्णा और तृष्णासे चिन्ता उत्पन्न होती है। लोभी मनुष्य पहले बहुतसे राजस गुणोंको प्राप्त करता है और उनकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें तामस गुणोंका भी प्रवेश आरम्भ हो जाता है।' महाभारतके अनुगीता-पर्वमें ब्राह्मणरूपधारी धर्मसे जनक भी कहते हैं—'यद्यपि उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त मिथिलापर मेरा अधिकार है, पर जब मैं विचार करता हूँ तो सारी पृथ्वीमें खोजनेपर भी मुझे अपना राज्य दिखायी नहीं देता। सारी पृथ्वीपर अपना कोई राज्य न पाकर मैंने मिथिलामें खोज की। जब वहाँसे भी निराशा हुई तो अपनी प्रजापर अपने अधिकारका पता लगाया। परंतु उनपर भी अपने अधिकारका जब निश्चय न हुआ तो मुझे मोह हो गया। फिर विचारके द्वारा मोहका नाश हो जानेपर मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि कहीं भी मेरा राज्य नहीं है, अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है। एक तरहसे यह देह भी मेरी नहीं है और दूसरी तरहसे यह सारी पृथ्वी ही मेरी है।'

राजा अम्बरीषकी गायी हुई स्वराज्यविषयक गाथाका सारांश है—निर्लोभताकी साधना। इसके बिना शासकीय आदर्शकी प्राप्ति सम्भव नहीं। लोभ शासकोंको अंधा बना देता है। यह उन्हें व्यक्तिगत हानि-लाभके संकीर्ण घेरेसे बाहर कुछ भी देखने नहीं देता। उनके भीतर, बहुत गहरेमें बैठा स्वार्थका दानव उनकी सारी प्रवृत्तियोंको परिचालित करता है।

हमें स्वराज्य तो मिल गया, परंतु शान्ति और सद्भावसे जीना हम न सीख पाये। इसके लिये आध्यात्मिक स्वराज्यका चिन्तन आवश्यक है। इस दिशामें अम्बरीषके उपर्युक्त विचार समुचित शिक्षा दे सकते हैं।

तुलसीका पौधा

(लेखक—डॉ० श्रीगोपालप्रसादजी 'वंशी')

तुलसीके पौधेको समस्त भारतमें बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। धार्मिक उपयोगके अतिरिक्त इसकी पत्तियोंका ओषधिके रूपमें सेवन भी किया जाता है। वैदिक साहित्यमें 'तुलसी' शब्द नहीं मिलता। इसका सम्बन्ध इतिहास-पुराणोंसे है। इसके प्रत्येक पत्रमें एक तेज सुगन्ध होती है। हरित तोड़नेपर इसकी सुवासके साथ मञ्जरीका हर फूल सिहरता-सा दिखायी पड़ता है। इसकी मञ्जरी अति कोमल और अनेक रंग-छटाओंसे मण्डित होती है। इसका बीज काला, पर सुन्दर होता है। हवाकी लहरोंपर वह सहजमें ही उड़ जाता है और बरसातकी पहली झड़ीके साथ उग आता है।

तुलसी मुख्यतः दो प्रकारकी होती है—श्वेत और श्यामा। आयुर्वेदकी दृष्टिसे श्वेत तुलसीकी अपेक्षा श्यामा तुलसीमें अधिक गुण पाये जाते हैं, पर पुराणोंमें अधिक पुण्य श्वेतके ही निर्दिष्ट हैं। यह गर्म त्रिदोषनाशक, खाँसी, शूल, कृमि, वमन तथा वातनाशक और आरोग्यवर्धक होती है। तुलसी कई नामोंसे प्रचलित है। जैसे—सुलभा, सुरसा, वृन्दा, वैष्णवी, अमृता, श्यामा, रामा, गौरी तथा बहुमञ्जरी आदि। अंग्रेजीमें तुलसीको 'होलीबेसिल' (Holy Basil) तथा 'सेक्रेड बेसिल' (Sacred Basil) कहते हैं। लैटिनमें इसे 'ओसिमम बेसिलिकम' (Ocimum Basilicum) और जर्मन-भाषामें 'बेसिलिन क्रांट' (Basilen Kraut) कहा जाता है। फ्रेंच तथा ग्रीक भाषाओंमें 'बेसिल' (Basil) का अर्थ है—'दैवी शक्ति'।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें तुलसीकी उत्पत्ति समुद्रमंथनके समय निर्दिष्ट है। इसका विशेष सम्बन्ध विष्णुसे है। संस्कृतमें इसे 'हरिप्रिया' कहते हैं। 'स्कान्द तुलस्युपाख्यान'में कहा गया है कि भगवान् विष्णु जालंधरकी पत्नी वृन्दाके अग्निप्रवेश कर जानेपर दुःखित एवं विक्षिप्त-से हो गये। उन्हें मोहजालसे बचानेके लिये अन्य देवोंने लक्ष्मी-गौरी आदिसे प्रार्थना की। उन देवियोंमेंसे प्रत्येकने देवोंको कुछ बीज देकर कहा—इन्हें वहाँ बो देना जहाँ विष्णु विमोहित हुए थे। इन देवोंने ऐसा ही किया। फलतः उस स्थानपर धात्री, मालती, बिल्व और पुनः तीनोंके एकत्र बीजसे तुलसी उगकर पल्लवित और पुष्पित हो गयी। इससे भगवान् विष्णुका मनः-क्लेश दूर हुआ। लोगोंका विश्वास है कि तुलसीकी जड़में सभी तीर्थ, मध्यमें सभी देव-देवियाँ और ऊपरी शाखाओंमें सभी वेद स्थित हैं। इस पौधेकी पूजा विशेषकर स्त्रियाँ करती हैं। जिनमें विशेष धर्म-निष्ठा है, वे तो सालभर पूजती हैं, परंतु विशेषरूपमें यह कार्तिक मासमें पूजी जाती है। धार्मिकजन तुलसी-का विवाह बालमुकुन्द या शालिग्रामके साथ कार्तिकमासमें कराते हैं।

जिनके मृत शरीरका दहन तुलसीकाष्ठकी अग्निसे किया जाता है, वे विष्णुलोकमें जाते हैं—उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यदि दाह-संस्कारके समय अन्य लकड़ियोंके भीतर एक भी लकड़ी तुलसीकी हो तो करोड़ों पापोंसे युक्त होनेपर भी मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है। तुलसीकी लकड़ीकी अग्निसे जिस मनुष्यके शवका दाह होता है, उसे विष्णु स्वयं ही आकर, वैकुण्ठ ले जाते हैं। यमराजके दूत उसे नहीं ले जा सकते।

जिस घरमें तुलसीका पौधा होता है, उस घरमें कभी दरिद्रता नहीं रहती और बन्धुओंसे वियोग नहीं

*

होता। जहाँ तुलसी होती है, वहाँ भय और रोग नहीं ठहरते। जहाँ तुलसीकी सुगन्ध लेकर हवा बहती है, वहाँकी दसों दिशाएँ और सब प्रकारके जीव पवित्र हो जाते हैं। कहा गया है कि शिवमन्दिरमें यदि तुलसीका पौधा लगाया जाय तो उससे जितने बीज तैयार होते हैं, उतने ही युगोंतक मनुष्य स्वर्गमें निवास करता है।

तुलसीका पौधा एक प्रकारसे हिन्दू-घरोंकी शोभा है। धार्मिक दृष्टिसे इस पौधेको बड़े महत्त्वका स्थान प्राप्त है। बिना इसके भगवान् विष्णुकी पूजा पूरी नहीं होती। इसकी पौराणिक महत्ता भी है। विष्णुभगवान्को प्रसाद-भोग लगानेके समय प्रसादमें तुलसी-पत्र डालना अनिवार्य है। तुलसीपत्र तोड़नेका यह नमस्कार-मन्त्र है—

वृन्दायै तुलसीदेव्यै प्रियायै केशवस्य च।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव सर्वदा॥

तुलसी केवल पूजाकी ही वस्तु नहीं है। उसकी असाधारण उपयोगिता तथा उसके आश्चर्यजनक गुणोंने भी उसे अवश्य पूजनीय बना दिया है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इसके अद्भुत गुणोंसे अच्छी तरह परिचित थे, उन्होंने ही इसे इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। पर आज मात्र तुलसी केवल कुछ घरोंमें पूजाकी वस्तु ही रह गयी है। हमारे पूर्वज इसके गुणोंके कारण देवत्वकी भावना रखते थे। यदि ओषधि-रूपमें वे इसका प्रचार करते तो वह सहज सेव्य न होकर संकुचित हो मात्र वैद्यकशास्त्रकी वस्तु हो जाती। उससे विस्तृत जन-कल्याण सम्भव नहीं हो पाता। तुलसीके देवत्वके सम्बन्धमें भी यही धारणा है—

यत्रैकस्तुलसीवृक्षस्तिष्ठति द्विजसत्तमाः।
तत्रैव त्रिदशाः सर्वे ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥
(पद्मपु० क्रियायोगसार)

'जहाँ तुलसीका एक भी पौधा होता है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि सब देवता निवास करते हैं।'

तुलसीसेवनात् सेकात् पातकानि महान्त्यपि।
संक्षयं यान्ति देवेशि तमः सूर्योदये यथा॥
(गौ० त० तु० मा० उ०)

'तुलसी लगाने और उसकी सेवा करनेसे महापातक भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है।' इसके अतिरिक्त जहाँ तुलसीका जंगल होता है, उसके आस-पास एक कोसतककी पृथ्वी गङ्गाजलके समान पवित्र होती है। इतना ही नहीं, तुलसी केवल पवित्र ही नहीं, प्रत्युत अमृत-तुल्य भी है। जिस तरह तुलसीके पौधेके आस-पासकी वायु शुद्ध रहती है और स्वास्थ्यवर्धक होती है, उसी प्रकार तुलसीके पौधेके नीचेकी मिट्टी भी शुद्ध एवं गुणकारी होती है। कहते हैं जिस प्रसादमें तुलसी नहीं रहती भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते हैं। इसी कारण ईश्वर-भक्त (वैष्णव) भोज्यसामग्रीमें बिना तुलसी-पत्र डाले भोजन नहीं करते और मरते समय मरनेवालेके मुखमें गङ्गाजलके साथ तुलसी-पत्र देना उसकी मुक्तिका साधन मानते हैं।

तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः।
विदिशश्च दिशः पूता भूतग्रामश्चतुर्विधः॥

धार्मिक दृष्टिसे जितनी महत्ता तुलसीको स्वीकार की गयी है, शायद ही उतनी महत्ता किसी अन्य वनस्पतिको दी गयी हो। कार्तिक मासमें आरम्भसे ही लोग नित्य स्नानादिसे निवृत्त होकर तुलसीके पौधेको जल चढ़ाते और पूजा करते हैं। तुलसीचौतरेपर भक्तिसे दीप-दान करना भी पुण्यजनक माना जाता है। स्त्रियाँ इसकी उपासना अनेक प्रकारकी भावनाओंसे करती हैं। कन्याएँ सुन्दर, भद्र, कुलीन और सुसंस्कृत वर-प्राप्तिके लिये, महिलाएँ अपने वर्तमान सुहागको अचल और सुखकर रहनेके लिये, विधवाएँ सुख, शान्ति और शेष जीवनको भगवद्भक्ति-प्रदायिनी बने रहनेके लिये तुलसीकी पूजा-अर्चा करती हैं। तुलसी-पूजा भक्ति-संजीवनी और कल्याणमयी भी है।

मुख-शुद्धिके लिये तुलसीदल चबाना प्रचलन है। राम-नामोच्चारणके साथ मरणासन्नके मुखमें तुलसीदल, सोना और गङ्गाजल डालना उसकी शरीरगत अपवित्रताको नष्ट करनेका साधन है। आँगनमें तुलसीका पौधा लगाना गृह-सौन्दर्यके साथ-साथ धार्मिक, सामाजिक और आयुर्वेदिक महत्त्वयुक्त भी है। हनुमान्‌जीने भी विभीषणके भवनकी भीतियोंपर रामायुधोंके चिह्न और वहाँ लगे तुलसीके पौधेको देखकर 'साधु-निवास' समझा था—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

(मानस ५।५)

अयोध्यामें सरयूतटपर तुलसीके अनेक वृन्द थे—

तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥

(मानस ७।२८।६)

प्रायः अब भी वहाँ बहुतसे तुलसीके वृन्द हैं। अवधके लोक-गीतोंमें तुलसी-भक्तिकी सार्थक चर्चा है—

मचिए बैठि सीतल रानी सखियाँ सब पूछइँ,
कवन किहेउ व्रत-नेम रमइया बर पायेउ।

सीताका उत्तर नारीकी तुलसी भक्ति-भावनाकी ओर संकेत करता है—

कातिक मास नहायेउँ, सुरुज पइयाँ लागिउँ,
तुलसी दियना मैं बारेउँ, रमइया बर पायेउँ।

कार्तिक मासमें नित्य स्नान, सूर्य-नमस्कार और तुलसीको दीपरूपी ज्योतिपुञ्ज समर्पित कर सीता-जैसी कन्याको राम-सा वर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतीय लोक-मानसमें तुलसीके पौधेके प्रति व्यापक आस्था-श्रद्धा है। वैष्णवजनोंमें अनेक भक्तजन तुलसीमालापर जप करते और उसका पहनना पुण्यजनक मानते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें भी तुलसीकी महिमा इस प्रकार वर्णित है—

तुलसी पित्तकृद् वातक्रिमिदौर्गन्ध्यनाशनी।
पार्श्वशूलारतिश्वास-कासहिक्काविकारजित्॥

(भा० प्र०)

'तुलसी पित्तनाशक, वात-क्रिमि तथा दुर्गन्धनाशक है। पसलीका दर्द, अरुचि, खाँसी, श्वास, हिचकी आदि विकारोंको जीतनेवाली है।'

तुलसी लघुरुष्णा च रुक्षा कफविनाशनी।
क्रिमिदोषं निहन्त्येषा रुचिकृद्वह्निदीपनी॥

(धन्वन्वतरिनिघण्टु)

'तुलसी लघु, उष्ण, कफनाशक, कृमि-दोषोंको दूर करनेवाली, रुचि बढ़ानेवाली और जठराग्निको दीप्त करनेवाली है।'

गौरवे शिरसः शूले पीनसे ह्यहिफेनके।
क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमेहके॥

(चरक सू० अ० २।५)

'सिरका भारी होना, पीनस, माथेका दर्द, आधासीसी, मृगी, नासिका-रोग, क्रिमि-रोग तुलसीसे दूर होते हैं।' इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ तुलसीके चामत्कारिक गुणोंकी महिमासे भरे पड़े हैं। तुलसीका पौधा साधारणतः मार्चसे लेकर जूनतक लगाया जाता है। सितम्बर और अक्टूबरमें यह फूलता है और जाड़ेके दिनोंमें इसके बीज पकते हैं। इस तरह यह बारहों महीने पाया जा सकता है। इसके सभी अङ्ग-पत्तियाँ, बीज और डण्ठल औषधिका काम करते हैं। इसकी जड़ ज्वरका प्रकोप शान्त करनेवाली, उसका बीज वीर्यको गाढ़ा बनानेवाला तथा शान्तिदायक होता है। उसका सूखा हुआ पौधा पाचनशक्ति बढ़ानेका अद्वितीय गुण रखता है। इसकी पत्तियोंसे कुछ पीलापन लिये हुए हरे रंगका तेल निकलता है। उस तेलको अगर कुछ समयके लिये पड़ा रहने दिया जाय तो वह जमकर रवादार हो जाता है और बड़ा ही गुणकारी होता है।

तुलसी मलेरिया-निवारक है तथा मच्छरोंको दूर भगाती है। मच्छरोंको दूर भगानेवाली तुलसी और

साधारण तुलसीमें कुछ अन्तर है। उसे वन-तुलसी कहते हैं। यदि हर रोज तुलसीके दो-चार पत्ते चबा लिये जायँ तो उससे सभी प्रकारके ज्वरों और खासकर मलेरियाके प्रकोपसे बचाव होगा। सम्भवतः प्राचीन ऋषियोंने इसी कारण विष्णु-पूजनके बाद चन्दन, तुलसीदल-सहित चरणामृत पान करनेकी विधि निकाली है। आज भी यदि आप मन्दिरोंमें जायँ तो पुजारी लोग यही चरणामृत पान करायेंगे और कहेंगे—

'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥'

तुलसीकी गंध कुछ इस प्रकारकी है कि उससे मच्छर आदि कीड़े उस स्थानमें नहीं रह सकते। सुना तो यहाँतक जाता है कि तुलसीके पौधेके आस-पास साँप भी नहीं टिक सकते। तुलसीके पौधेकी सुगन्ध वातावरणको शुद्ध करनेवाली होती है। पाश्चात्य डाक्टरोंने भी अपना यह मत प्रकट किया है कि मलेरियाको दूर रखनेके लिये तुलसी सबसे उत्तम और साथ ही सस्ती औषधि है। यदि दो-चार तुलसीकी पत्तियाँ काली मिर्चके साथ घोंटकर गर्मीके दिनोंमें खायी जायँ अथवा जाड़ेके दिनोंमें उसे काली मिर्चके साथ उबालकर लिया जाय तो मलेरियाका रोग दूर हो जाता है तथा अन्य प्रकारके भी बुखार जाते रहते हैं। अगर चिकित्सक इसका ठीक उपयोग करना जानता है तो तुलसी क्षय-रोगसे भी छुटकारा दिला सकती है। तुलसीके काढ़ेमें थोड़ी-सी मिश्री और गायका दूध मिलाकर पीनेसे थकावट मिटती है और सर्दी, खाँसी दूर हो जाती है। नीबूके रसके साथ तुलसीकी पत्तियोंका सेवन करनेसे चर्म-रोग दूर होते हैं। इससे चेहरेपर पड़े काले धब्बे दूर हो जाते हैं और सौन्दर्यमें वृद्धि होती है। तुलसीका तेल फोड़े, पीठके फोड़े और खुजली आदिके लिये लाभदायक होता है। इसके अतिरिक्त तुलसीके तेलसे पीब देनेवाले भारी घाव भी अच्छे होते हैं, यहाँतक कि गरमीके रोगी भी इससे लाभ उठाते हैं। तुलसी सर्प-विषकी राम-बाण औषधि है। साँपके काट लेनेपर शीघ्र ही रोगीको दो-चार पत्तियाँ खिला देनी चाहिये। इसके उपरान्त दो तोला तुलसीकी जड़ अथवा पत्ती, एक तोला काली मिर्चके साथ थोड़ेसे पानीमें मिलाकर देना चाहिये। इसके सेवनसे बेहोशी भी मिटेगी। जहाँ साँपने काटा हो, उस स्थानपर तुलसीकी जड़को घिसकर मक्खनके साथ मिलाकर उसकी पट्टी लगा देनी चाहिये। पट्टीका रंग विषके कारण सफेदसे काला हो जायगा। पट्टीका रंग काला पड़ते ही उसे फौरन बदल देना चाहिये और जबतक उसका रंग सफेद न दीख पड़े तबतक इस क्रमको जारी रखना चाहिये।

इन सब गुणोंके अतिरिक्त अन्य बीमारियोंके भी दूर करनेमें तुलसी सहायक होती है। स्त्रियोंके लिये प्रसूति-ज्वरमें तुलसीका सेवन बड़ा लाभदायक होता है। पुरुषोंके लिये तुलसीका बीज वीर्यको गाढ़ा बनानेवाला तथा शान्तिदायक होता है। वीर्य बढ़ानेके लिये १८ ग्रेन तुलसीका बीज ३६ ग्रेन पुराने शीरेमें मिलाकर सुबह-शाम गायके ताजे दूधके साथ सेवन करना चाहिये।

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद् गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिंकराः॥
तुलसीमञ्जरीभिर्यः कुर्याद्धरिहरार्चनम्।
न स गर्भगृहं याति मुक्तिभागी भवेन्नरः॥
(पद्म०पु० स्व०)

'जिसके घरमें तुलसी-वृन्द होता है, वह घर तीर्थ रूप हो जाता है, वहाँ यमदूत नहीं आते। जो मनुष्य तुलसी-मञ्जरीसे भगवान् हरि-हरकी पूजा करता है, वह फिर गर्भमें नहीं आता, वह मुक्तिका भागी हो जाता है।'

पूर्णिमायाममायां च द्वादश्यां रविसंक्रमे।
तैलाभ्यङ्गे चस्नाते मध्याह्ने निशिसंध्ययोः॥
अशौचे शुचिकाले वा रात्रिवासोऽन्विता नराः।

तुलसीं ये विचिन्वन्ति ते छिन्दन्ति हरेः शिरः ॥
त्रिरात्रं तुलसीपत्रं शुद्धं पर्युषितं सति।
श्राद्धे व्रते च दाने च प्रतिष्ठायां सुरार्चने ॥
भूगतं तोयपतितं यद् दत्तं विष्णवे सति।
शुद्धं च तुलसीपत्रं क्षालनादन्यकर्मणि ॥
(ब्रह्मवैवर्तपु० प्रकृतिखण्ड २१ । ५०-५३)

'पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी, (रविवार,) सूर्य-संक्रान्तिके दिन, मध्याह्नकाल, रात्रि, दोनों संध्याओं और अशौचके समय, तेल लगाकर, बिना नहाये-धोये अथवा रातके कपड़े पहने हुए जो मनुष्य तुलसीके पत्रोंको तोड़ते हैं, वे मानो भगवान् श्रीहरिका मस्तक छेदन करते हैं। साध्वि ! श्राद्ध, व्रत, दान, प्रतिष्ठा तथा देवार्चनके लिये तुलसीपत्र बासी होनेपर भी तीन राततक पवित्र ही रहता है। पृथ्वीपर अथवा जलमें गिरा हुआ तथा श्रीविष्णुको अर्पित तुलसीपत्र धो देनेपर दूसरे कार्यके लिये शुद्ध माना जाता है।*

निष्कर्ष यह कि तुलसीका पौधा धार्मिक और लौकिक—दोनों दृष्टियोंसे कल्याणकारी और लाभदायक है। कार्तिक मासमें तुलसीपूजन-अर्चन विवाहादिकृत्य करना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थको अपने घरमें एक पौधा अवश्य रखना चाहिये। तुलसीका पौधा नैरुज्यकर एवं स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है।

भक्त सेठ रमणलाल

सेठ रमणलालका देश-विदेशमें कई जगह कारोबार था। बड़ी-बड़ी नावोंमें माल भरकर देशसे विदेश भेजा जाता था और विदेशसे यहाँ लाया जाता था। रमणलाल अत्यन्त साधु-स्वभावके भक्त पुरुष थे। उनका भगवान्में अगाध विश्वास था। वे श्रीमद्भगवद्गीताके बड़े विश्वासी भक्त थे। नित्य बड़े आदरसे भगवद्गीताका मनन करते और पवित्र निष्काम जीवन बिताते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ अपने वर्णाश्रमधर्मानुसार व्यापार आदि कार्य करते थे। उनकी धर्मपत्नी चम्पाबाई भी बड़ी ही भक्तिमती थी। घरमें श्रीगोविन्ददेवजीका विग्रह था। दोनों पति-पत्नी स्वयं बड़े भक्तिभावसे भगवान्का नियमित अर्चन-पूजन किया करते थे। दिनमें सेठजी अपनी पौढ़ी (गद्दी) पर जाते और लगभग छः घंटे काम-काज भलीभाँति सँभालकर घर लौट आते। चार घंटे शौच-स्नान और अतिथि-सत्कार तथा भोजनादिमें लगाते, चार घंटे सोते। शेष दस घंटे भजन-पूजन, स्वाध्याय, जप और स्मरण-ध्यान आदिमें बिताते थे। उनकी दिनचर्या बड़ी ही नियमित और निर्मल थी। उनके आदर्श सद्व्यवहारसे सैकड़ों मुनीम-गुमाश्ते और नौकर-चाकरोंकी तो बात ही क्या, दूर-दूरके लोग भी संतुष्ट रहते थे। जो भी उनके सम्पर्कमें आता, वही उनके प्रेम और सत्कारपूर्ण हितभरे व्यवहारसे मुग्ध हो जाता। वे व्यवहार-कुशल और हिसाब-किताबके साफ थे। उनकी व्यवहारकुशलतामें कहीं भी छल-कपट या दूसरेके अधिकार ले लेनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनमें परहितकी तत्परता और विनयशीलता कूट-कूटकर भरी थी। वे किसीपर कभी गुस्सा तो होते ही नहीं थे। सदैव हँसमुख और विनयसे विनम्र बने रहते थे।

एक बार रसोइयाने भूलसे हलुएमें शक्करकी जगह नमक घोलकर डाल दिया और तरकारियोंमें नमककी जगह शक्कर डाल दी। वह अपनी पत्नीकी बीमारीके कारण रातभरका जगा हुआ था और पत्नीकी रुग्णताके कारण उसके मनमें चिन्ता भी थी। इसीसे भूल हो गयी। सेठ रमणलाल भोजन करने बैठे तो उन्हें हलवा, नमकीन और तरकारी मीठी, किंतु बिना नमककी मालूम हुई। उन्होंने रसोइयेके चेहरेकी ओर देखा। उसका

* आयुर्वेदके दृष्टिकोणसे इधर अनेक लोगोंने तुलसीपर कई स्वतन्त्र शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। प्रस्तुत लेखमें भी प्रायः उनकी अधिकांश बातें आ गयी हैं।

चेहरा उदास था। सेठने हार्दिक सहानुभूतिके स्वरमें उससे पूछा—'महाराज! आज उदास कैसे हो?' लाभशंकर रसोइयेने जवाब दिया—'ब्राह्मणी बीमार है, इसीसे चेहरेपर कुछ मलिनता आ गयी होगी।' उसने रातमें जगनेकी बात नहीं कही। पर सेठ उसकी उनींदी आँखोंको देखकर ताड़ गये। उन्होंने कहा—'लाभशंकर! तुम खाकर जल्दी घर चले जाओ—ब्राह्मणी अकेली है, उसे सँभालो; यहाँ दूसरा आदमी काम कर लेगा। तुम भला, आये ही क्यों? फिर भैया! तुम्हारे घरमें दूसरा कोई है भी तो नहीं। तुम रातभर जगे भी होओगे! मैं एक आदमी भेजता हूँ, वह बैठेगा, तुम कुछ देर आराम कर लेना।' रसोइयाको मालिकके सहानुभूतिभरे शब्दोंसे बड़ी सान्त्वना मिली। वह मन-ही-मन आशीर्वाद देता हुआ घर चला गया।

लाभशंकरके चले जानेपर सेठ रमणलालने अपनी पत्नी चम्पाबाईसे धीरेसे कहा—'देखो, बेचारा डरके मारे स्त्रीको बीमार छोड़कर कामपर आ गया। रातकी नींद थी और ब्राह्मणीकी चिन्ता थी। इससे उसने भूलसे हलवेमें नमक और तरकारियोंमें शक्कर डाल दी है। अगर इन चीजोंको घरके सब लोग—नौकर-चाकर आदि खायँगे तो बेचारे ब्राह्मणकी हँसी उड़ायेंगे और उसे भी बड़ा भारी दुःख होगा। अतएव हलुवेको गोशालमें ले जाकर गायोंको खिला दो और जल्दीसे पुनः हलवा-तरकारी बनवा लो, जिससे लाभशंकरकी भूलका किसीको पता न लगे।' चम्पाबाईने वैसा ही किया। बात बहुत छोटी, परंतु इससे सेठ रमणलालकी विशाल-हृदयता और सदाशयताका पता लगता है।

कुछ दिनों बाद एक दिन चम्पाबाईने हँसते-हँसते लाभशंकरको उसकी उस दिनकी भूलकी बात बतला दी। वह बेचारा सुनकर सकपका गया। उसने सेठके पास जाकर क्षमा माँगी। सेठजीने सान्त्वना देते हुए उससे कहा—'लाभशंकर! तुम्हारी जगह हम होते तो वैसी हालतमें हमसे तो कोई दूसरा काम ही नहीं हो पाता। तुमने तो इतनी सारी रसोई बना दी। नमक-शक्करमें जरा उलट-पुलट हो गयी तो इसमें ऐसा अपराध क्या हो गया, जो क्षमा माँगते हो? तुम्हारी नीयत तो बुरी थी नहीं।' लाभशंकरका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। उसने विनयके साथ कहा—'सेठजी! मैं जानता हूँ, आप बड़े दयालु हैं, पर आपने मुझे भूल बतायी क्यों नहीं?' सेठ रमणलाल बोले—'भैया! उस दिन तुम पहलेसे ही दुःखी थे, तुम्हारी भूल बताकर मैं तुम्हारा दुःख ही तो बढ़ाता। फिर सच्ची बात तो यह है कि मुझसे कभी भूल न होती तो मैं तुम्हारी भूलकी चर्चा करूँ। जब मैं स्वयं अनेक भूलें करता हूँ और अच्छी हालतमें भूल करता हूँ, तब तुमसे एक विशेष परिस्थितिमें बनी मामूली भूलकी चर्चा चलाकर नयी भूल क्यों करता। सही बात तो यह है कि दूसरेकी भूलपर बुरा माननेका अधिकार उसीको हो सकता है, जिससे जीवनमें कभी भूल नहीं होती हो।'

एक बार सेठ रमणलालकी मालसे भरी नावें समुद्रमें डूब गयीं। मल्लाह तो सब बच गये, परंतु मालका कुछ भी हिस्सा न बच पाया। सेठको समाचार मिला तो उन्होंने निर्विकार चित्तसे कहा—'अवश्य ही यह कोई पापका पैसा था; नहीं तो, भगवान्के निर्भ्रान्त मङ्गल-विधानमें नाव डूबनेका प्रसङ्ग ही क्यों आता?' पीछे पता चला कि जहाँसे माल आ रहा था, वहाँके कर्मचारियोंने पैसोंके लोभसे अनुचित कमाई की थी। सेठने कहा—'भगवान्ने बड़ा मङ्गल किया, जो पापसे लदी नावें राहमें ही डूब गयीं। कहीं पैसा घरमें आ जाता तो पता नहीं, उससे हम लोगोंकी बुद्धि बिगड़ जाती और तब न जाने क्या दशा होती?'

एक वार सेठ रमणलालकी किसी व्यापारकी शाखामें अनाजके गोदामोंको लोगोंने अनुचित ढंगसे ले लिया। उनमें कई लाखका अनाज भरा था। इस खबरको सुनकर शहरके कुछ बन्धु-बान्धव सहानुभूति दिखाने और हाल पूछने सेठके पास सवेरे ही आये। सेठजी उस समय गीताका पारायण कर रहे थे। उनके चेहरेपर जरा भी उद्वेगका चिह्न नहीं था, उल्टे शान्ति और प्रसन्नता निखर रही थी। उन्होंने समागत लोगोंसे पूछा—'आज आपलोग इस समय घरपर कैसे पधारे? कोई मेरे योग्य खास सेवा-कार्य हो तो आज्ञा कीजिये।'

उन लोगोंने रमणलालके चेहरेपर कोई विकार न देखकर सोचा—'शायद समाचार झूठा हो।' उन्होंने कहा—'हमलोगोंने सुना था कि आपकी किसी शाखामें भारी डाका पड़ गया है, परंतु बड़ा अच्छा हुआ, जो वह अफवाह झूठी निकली। भगवान्‌ने बहुत अच्छा किया'। इसपर सेठ रमणलालने मुसकराते हुए कहा—'बात तो झूठी नहीं है, पर आपका यह कहना सर्वथा सत्य है कि 'भगवान्‌ने बड़ा अच्छा किया।' सचमुच श्रीभगवान्‌ने इसमें मेरा कई तरहसे बड़ा उपकार किया है। भगवान्‌के मङ्गलमय मर्मको तो भगवान् ही जानें, पर मैंने इतना तो समझा है कि प्रथम तो उन्होंने मेरी परीक्षा की है कि धनके चले जानेसे मुझको दुःख होता है या मैं उनके मङ्गलविधानका आनन्दके साथ स्वागत करता हूँ या नहीं; दूसरा, उस प्रान्तमें इस समय अकालके लक्षण दिखलायी देने लगे थे। मेरा विचार था कि मैं वहाँके संगृहीत अनाजमेंसे कुछ हिस्सा अकाल-पीड़ित भाई-बहनोंकी सेवामें समर्पण कर दूँ। उनके रूपमें भी तो मेरे भगवान् ही हैं। पर मैं देर कर रहा था और मेरे मनमें कुछ बचा रखनेका लोभ था; भगवान्‌की प्रेरणासे उन भगवत्स्वरूप लोगोंने स्वयं ही अपने-आप उस सारे संग्रहको बाँट लिया। मेरा काम हल्का हो गया। तीसरे, यदि किसीने लोभवश ही कुछ लिया है तो लिया ही है न? मैंने तो किसीका कुछ नहीं छीना है; और चौथा, मेरा सद्भाव और भगवदाश्रय-रूपी धर्म-धन तो पूरा-पूरा मेरे पास ही है। मैं समझता हूँ कि उसमें तो भगवत्कृपासे कुछ वृद्धि ही हुई है।'

सेठ रमणलालकी बात सुनकर लोग उनके पवित्र भावोंकी प्रशंसा और उनके आचरणपर आश्चर्य करते हुए लौट गये। भगवान्‌पर ऐसी आस्था अनुकरणीय है।

सेठ जब छप्पन वर्षके हुए, तब उन्होंने पुत्र न होनेके कारण अपने दौहित्र छगनलालको बुलाकर घरका सारा भार और सारा धन सौंप दिया तथा स्वयं पत्नीसहित नर्मदातटपर जाकर त्यागपूर्ण साधु-जीवन बिताते हुए अखण्ड भजन करने लगे। लगभग सत्तर सालकी उम्र होनेपर पति-पत्नी दोनोंको भगवान् श्रीगोविन्ददेवजीने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया। इसके बाद लगभग तीन सालके बाद दोनों पूतात्मा पति-पत्नी एक ही दिन नश्वर शरीर छोड़कर नित्य भगवद्धामको सिधार गये।

उनकी जीवनी वस्तुतः आधुनिक लोगोंके लिये आदर्श है। इससे भगवन्निष्ठाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

अमृत-बिन्दु

जैसे मछली जलके विना व्याकुल हो जाती है, वैसे ही हम यदि भगवान्‌के विना व्याकुल हो जायँ, तो भगवान्‌के मिलनेमें देर नहीं लगेगी। साधककी सच्ची व्याकुलता भगवान्‌की उपस्थिति करा देती है।

* * *

संत-महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची सेवा है।

* * *

जिसका मन भगवान्‌में लगा रहता है, उसे सामान्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह भगवान्‌की सभाका सदस्य है। 'सभ्य' अथवा 'सदस्य' सदा मान्य होते हैं।

* * *

सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लग जानेपर साधकको भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी संतोंकी प्रसन्नता—कृपा प्राप्त होती है। संतोंकी कृपा कल्याणकी जननी होती है।

* * *

जो निरन्तर बदल रहा है, उस (संसरणशील संसार) पर विश्वास करना, उसे सच्चा मानना ही भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधा है। विश्वास हो तो भगवान्‌पर और वह अटल हो।

* * *

भगवान्‌का विश्वास भगवान्‌से भी बड़ा है; क्योंकि जो भगवान् सदा रहते हुए भी नहीं मिलते, वे विश्वाससे मिल जाते हैं। इसीलिये कहा है—'विश्वासः फलदायकः।'

* * *

शरीर, मन, बुद्धि आदिसे तत्त्वतः वास्तविक सम्बन्ध न रखना ही सच्चा एकान्त है।

* * *

सच्चे हृदयसे भगवान्‌की सेवामें लगे हुए साधकके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा होती है; क्योंकि सबके मूल भगवान् ही हैं। वृक्षके मूलको सींचनेसे स्कन्ध, शाखाओं, वृन्तोंका भी सेचन हो जाता है।

* * *

मनकी एकाग्रता योग-मार्गमें जितनी आवश्यक है, उतनी भक्तिमें नहीं। भक्तिमें तो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनी चाहिये। भक्तका मन तो भगवान्‌के गुण-कीर्तन, लीला-दर्शन और चरित्र-श्रवणमें व्याप्त रहता है।

* * *

जैसे गायका दूध गायके लिये नहीं, अपितु दूसरोंके लिये ही है, वैसे ही भगवान्‌की कृपाशक्ति भगवान्‌के लिये नहीं, अपितु दूसरों-(हम सब-) के लिये ही है।

* * *

जब हमारे अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहेगी, तब हमें भगवद्दर्शनकी भी इच्छा नहीं करनी पड़ेगी; अपितु भगवान् अपने-आप दर्शन दे देंगे। निष्कामता और पूर्णकामतामें अन्तर प्रायः नहीं होता।

* * *

भगवान्‌में लगन लगानेका सबसे सुगम उपाय है—निरन्तर नामजप करते हुए भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करके उनसे (एक-एक, आधे-आधे मिनटपर) कहते रहना कि—'हे नाथ! मैं आपकी सेवामें लग जाऊँ।'

* * *

भगवान्‌की लगन लग जानेपर लज्जा, संकोच आदि सब स्वाहा हो जाते हैं।

* * *

अपनी कमाईमें किसीके हकका एक कण भी न आ जाय—इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये। इस वेद-वाक्यपर सदा ध्यान रहे कि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—किसीके धनकी आकांक्षा न करो।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वैध श्रमसे आत्मसंतुष्टि

(एक प्रेरक प्रसङ्ग)

वाष्प-इंजिनके आविष्कर्त्ता जॉर्ज स्टीवेंसन एक बार अपनी बहनके साथ न्यूकैसेल नगरमें भ्रमणके लिये निकले। उनकी बहनको एक दूकानपर एक हैट बहुत पसंद आया। कीमत पूछनेपर उन्होंने देखा कि जेबमें मूल्यसे पंद्रह पेंस कम हैं। बहनको निराश देखकर भाई स्टीवेंसनने कुछ निश्चयकर कहा—'तू चिन्ता मत कर, मैं पैसोंकी व्यवस्थाकर अभी आता हूँ।' यह कहकर स्टीवेंसन चले गये। कुछ देर बाद उत्साहमें भरे हुए वे अपनी बहनके पास आये और बोले—'पैसे मिल गये हैं।'

'पर ये मिले कहाँसे?' बहनने सशङ्कित भावसे पूछा—'क्या किसीसे उधार माँगकर लाये हो, अथवा""""?'

'नहीं, मैंने थोड़ी देरतक एक भद्र पुरुषके घोड़ेकी लगाम थामी थी। उसीके पारिश्रमिकके रूपमें ये पैसे मुझे प्राप्त हुए हैं',—स्टीवेंसनने बहनके मनोभावोंको समझकर अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए सहज मुस्कानके साथ कहा। बहन अपने भाईके स्वावलम्बनकी इस सरल प्रक्रिया तथा प्रवृत्तिपर प्रसन्न हो संतोष अनुभव करने लगी। स्टीवेंसन स्वयं भी श्रमद्वारा उपार्जित पैसोंसे बहनके हैट खरीदनेमें सहायक हो आत्मतोष अनुभव कर रहे थे।

सच है—किसी भी परिस्थितिमें जहाँतक हो सके कोई रकम (धन) किसीसे भी कभी उधार न लेकर श्रमद्वारा अर्जित धनसे ही आवश्यकता पूरी करनेका उचित प्रयास करना स्वावलम्बी बनानेमें सहायक और सर्वथा श्रेयस्कर है। प्रेषक—ऋषिमोहनजी श्रीवास्तव

(२)

परोपकारमें आत्मकल्याण

एक अनुभवी संतद्वारा सुनायी हुई यह सत्य घटना है। उन्होंने बताया कि मैं एक बार बदरीनाथ-यात्रामें गया था। अत्यधिक शीत तथा बरफमें चलते रहनेसे मेरे पैर इतने सुन्न और निष्क्रिय हो गये कि आगे बढ़ना सर्वथा कठिन हो गया। विवश होकर मैं वहीं बैठ गया। मेरे अन्य सभी साथी आगे निकल गये थे। थोड़ी देरके पश्चात् एक नवयुवक उधरसे निकला। मैंने उससे कहा—'भाई! अपने सशक्त, सबल हाथोंसे यदि तुम मेरे पैरोंको रगड़ दो तो इनमें कुछ चेतनता आ सकती है। ठंडके कारण मेरे दोनों पैर जड़ बन गये हैं।'

'मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ। शीतके कारण मेरे हाथोंकी भी तो ऐसी ही दशा हो रही है। ये भी तो प्रायः निर्जीव बने हुए हैं।' नवयुवकने कहा।

'तब तो तुम अवश्य ही मेरे पैरोंका घर्षण कर दो।' मैंने अपनी बातपर जोर देते हुए उससे कहा—'अपने हाथोंमें चेतनता लानेके लिये भी तो तुम्हें ऐसा अवश्य करना चाहिये।' मैंने दुहराया।

वह युवक कुछ देरतक विचार करता रहा, फिर कुछ सोचकर तथा साहस जुटाकर उद्यत हुआ और अपने दोनों हाथोंसे बारी-बारीसे मेरे पैर रगड़ने लगा। उसके हाथोंकी गर्मी पाकर जैसे-जैसे मेरे पैरोंमें चेतनता आने लगी, वैसे-वैसे उसके हाथोंमें भी शक्ति आने लग गयी।

'यह तो चमत्कार हुआ महाराज! मैंने आपके पैर रगड़े; किंतु चेतनता मेरे हाथोंमें आ गयी!' युवकने साश्चर्य जिज्ञासा की।

'अनुभव बिना यह बात समझमें नहीं आ सकती। भाई! परोपकारी वृत्तिवाला ही दूसरोंकी भलाईके साथ अपना भी भला कर सकता है। यद्यपि मेरे पैरों तथा

तुम्हारे हाथोंमें समानरूपसे चेतना और शक्ति तुम्हारे-द्वारा मेरे पैरोंका घर्षण करनेसे (शीतसे जमे हुए रक्तका संचार हो जानेसे ही) प्राप्त हुई है, फिर भी इसके लिये भी यदि तुम तैयार ही न होते तो यह कैसे सम्भव होता ? परमार्थमें ही स्वार्थ समाया हुआ है। इस सत्यको जानकर, निज स्वार्थकी चिन्ता छोड़कर विशुद्ध परमार्थी होना आवश्यक है।' उसके समाधानमें मैंने कहा।

संतका यह अनुभव मात्र सिद्धान्तरूपमें स्वीकार करनेसे नहीं, अपितु व्यावहारिक जीवनमें उतारनेपर महत्त्वपूर्ण और लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

(गुजराती मासिक 'जनकल्याण' से)

(३)

मानवताका अनुकरणीय उदाहरण

घटना जुलाई १९८०की है। राजस्थान-नहर-परियोजनाके सहायक अभियन्ता महोदयद्वारा अपने ही कार्यालयके एक कर्मचारीको अपना रक्तदान करनेका यह एक अनुकरणीय उदाहरण है। एक कर्मचारी अपने कार्यालयमें ही किसी असाधारण रोगसे ग्रस्त हुआ। प्रारम्भमें तो उसे अस्पतालमें भर्ती करवा दिया गया, किंतु वहाँ उसका रोग घटनेके बजाय उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अन्तमें उसकी शारीरिक अवस्था इस स्थितिमें पहुँची कि उसके शरीरमें रक्तकी अत्यधिक कमी हो गयी; और उसके निजी परिवारके किसी भी सदस्यसे उसके रक्तका मिलान भी नहीं हो सका। बात उसके कार्यालयमें पहुँची; कोई भी व्यक्ति सहानुभूतिके अतिरिक्त अपना रक्त दान देनेका इच्छुक न दीख पड़ा।

सहायक अभियन्ता महोदयके पास भी इस व्यक्तिके स्वास्थ्यविषयक समाचार पहुँचे। उनके दयालु मनमें इस बीमार, असहाय व्यक्तिके प्रति करुणा जागृत हुई। अविलम्ब वे अस्पताल पहुँचे और उस कर्मचारी एवं उसके परिवारको धैर्य बँधाया—'आप लोग घबरायें नहीं। ईश्वरकी कृपासे ये स्वस्थ हो जायँगे। इनके शरीरमें रक्त पहुँचानेकी आवश्यकता है, इसकी व्यवस्था भी हो जायगी।' उनके कथनसे दुखी कर्मचारी एवं उसके परिवारको बड़ी सान्त्वना मिली। अभियन्ता महोदय जिस उद्देश्य और निश्चयके साथ तैयार होकर आये थे, उसके लिये वे तुरंत अस्पतालके ब्लड-बैंकमें गये। वहाँ अपने रक्त एवं कर्मचारीके रक्तका मिलान करवाया। संयोगसे उनका रक्त कर्मचारीके रक्तसे मिल गया। उन्होंने अविलम्ब स्वयंको प्रस्तुतकर जितना रक्त उसके लिये अपेक्षित था उतना निकलवाकर उसके इलाजकी समुचित व्यवस्था करवायी। फलस्वरूप कर्मचारीकी प्राण-रक्षा हो गयी। ऐसे संवेदनापूर्ण मानवीय उदाहरण बहुत कम देखने-सुननेमें आते हैं। [उक्त अधिकारी महोदय-को संकोच न हो, इसलिये प्रेषकने उनका नाम तथा कार्यालयका पता नहीं दिया है।]

प्रेषिका:—कनक गोस्वामी

(४)

देवीने प्राण-रक्षा की

ग्राम झरकुआ-कुदिरा, जिला-पन्ना (मध्यप्रदेश)-में दिनाङ्क २९ सितम्बर, ८० को सायंकाल लगभग साढ़े चार बजेकी आँखों देखी यह घटना है। मुन्ना काछीका दस वर्षीय लड़का अपनी चञ्चलता-वश एक इमलीके पेड़पर चढ़ गया। पेड़के नीचे देवीका मन्दिर है। लड़का वृक्षसे लगभग ४० फुट ऊँचाईसे गिरा, किंतु १५ फुट नीचे आकर एक डालपर बैठ गया और हँसने लगा।

ऊपर इमलीका झाड़ नीचे देवीका मन्दिर। लगता है, मानो देवीजीने ही स्वयं उस बालककी प्राण-रक्षा की हो। इतनी ऊँचाईसे गिरनेपर भी उसे बचाकर जगन्माताने अपने वात्सल्य करुणामय स्वरूपकी झलक दे दी। धन्य जगन्मातः! **'त्वमिव जननि त्वं विजयसे।'**

—डॉ॰ जगदम्बाप्रसाद शर्मा

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र, मासिक पत्र)

(वर्ष ५४)

वि० सं० २०३६-३७ (सन् १९८० ई०)की

निबन्ध, कविता तथा संकलित सामग्रीकी सूची

(यह 'कल्याण'के साधारण दूसरे अङ्कसे बारहवें तककी विषय-सूची है। विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये; वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद-सूची

संकलित सामग्री-सूची

'कल्याण'के कृपालु ग्राहकोंसे आवश्यक नम्र निवेदन

हमारे न चाहते हुए भी कतिपय अनिवार्य कारणों एवं परिस्थितियोंसे ऐसी सम्भावना है कि [कल्]याणका आगामी विशेषाङ्क—'भगवत्तत्त्वाङ्क' मार्च १९८१से पूर्व ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें न भेजा सकेगा। अतएव परिस्थितिजन्य विवशताके कारण विलम्बके लिये कृपालु ग्राहक कृपया क्षमा करेंगे।

कृपालु ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वी० पी० की प्रतीक्षा न कर वार्षिक मूल्य (बीस रुपये मात्र) मनीआर्डरद्वारा अग्रिम रूपमें भेज देनेकी कृपा करें। वी० पी० वापस आनेसे कल्याणको व्यर्थ ही लगभग चार रुपये डाकव्ययका नुकसान उठाना पड़ता है। वापस लौटे हुए अङ्क खराब भी हो जाते हैं। अतः वार्षिक मूल्य पहले ही भेजनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—"कल्याण" गीताप्रेस, गोरखपुर

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०-१३

नाम-महिमा

ते धन्यास्ते कृतार्थाश्च तैरेव सुकृतं कृतम्।
तैराप्तं जन्मनः प्राप्यं ये कलौ कीर्तयन्ति माम्॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

(भगवान् कहते हैं—) कलियुगमें जो मेरा कीर्तन करते हैं वे धन्य हैं, वे कृतार्थ हैं। उन्होंने ही पुण्य-[illegible] किया है तथा उन्होंने ही जन्म और जीवनका पानेयोग्य फल पा लिया है।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ (श्रीमद्भागवत)

जानकर या बिना जाने—जैसे भी हो भगवान्‌का नाम मुखसे उच्चारित होता रहे। वह नाम-कीर्तन मनुष्यके पापको वैसे ही दग्ध कर देता है जैसे काष्ठको अग्नि दग्ध कर देती है।

कीर्तनादेव कृष्णस्य विष्णोरमिततेजसः।
दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये॥ (पद्मपुराण)

अमित तेजस्वी सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तन-मात्रसे समस्त पाप उसी तरह विलीन (नष्ट) हो जाते हैं, जैसे दिन निकल आनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥ (बृहद्विष्णुपुराण)

श्रीहरिके इस नाममें पापनाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतना पातक (पाप) पातकी मनुष्य अपने जीवनभरमें भी नहीं कर सकता।

आर्त्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥ (प्रपन्नगीता)

पीड़ित, विषादग्रस्त, शिथिल, भयभीत तथा भयानक रोगोंमें पड़े हुए मनुष्य भी एकमात्र नारायण-नामका कीर्तन करके समस्त दुःखोंसे छूटकर सुखी हो जाते हैं।

संकीर्तनध्वनिं श्रुत्वा ये च नृत्यन्ति मानवाः।
तेषां पादरजःस्पर्शात् सद्यः पूता वसुंधरा॥ (बृहन्नारदीयपुराण)

जो भगवन्नामकी ध्वनिको सुनकर प्रेममें तन्मय होकर नाच उठते हैं, उनकी चरण-रजसे पृथ्वी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है।

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ (श्रीमद्भागवत)

(सूतजी ऋषियोंसे कहते हैं—) 'जिन भगवान्‌का कीर्तन पापनाशक है और प्रणाम दुःखनाशक है, ऐसे उन श्रेष्ठ (भगवान्) श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।'